KARIKAVALI

BY

VISHVANATHA PANCHANAN

WITH

A New Commentary

Rehasya Prakasha,

BY

PANDIT GANESH DATTA SHASTRI,
Professor, Oriental College, Lahore

Can be had from--LALA MOTI LAL,
Proprietor, Punjab Sanskrit Book Depot, Lahore

कारिकावली

विश्वनाथ पञ्चानन विरचिता

छिम्बरोट वास्तव्य गोस्वामिलक्ष्मणदत्तसूनुर्धीसनातन
धर्मोपदेशक प्राच्य विश्वविद्यालय,ध्य,पक पं०गणेशदत्त
शास्त्रिविरचितरहस्यप्रकाशाख्यव्याख्ययाऽलंकृता सेयम्
षड् दर्शनतत्त्वबुभुक्षिताध्यापकमहाशयानामुपदेशेऽतीवोप
कारिका

इसके सब अधिकार ग्रन्थकर्त्ता के स्वाधीन हैं।

सम्वत् १९६५। सन् १९०८।

पुस्तक मिलनेका पता:—लाला मोतीलाल
मालिक पञ्जाब संस्कृत पुस्तकालय लाहौर।

All Rights Reserved.

Printed at the Punjab Economical Press, Lahore
1908

BHARATIYA VIDYA ... LIBRARY
S. N.

भूमिका ।

राधाकृष्ण इति ख्यातः पितामह पदं दधत् ।
धृति क्षमादि युक्तत्वात् साक्षाद्धर्मता मियात् ॥
धर्मोपदेष्टृधौरेयः दर्शनीयस्सभासदाम् ।
पिता सच्चमदत्तो मे माननीयो महात्मनाम् ॥

सर्व सज्जनों की सेवा में सविनय निवेदन है कि इस कारिकावली की नूतन भाषा टीका में बहुत से अपूर्व विषय इसमें दिखाए हैं जिनै का संक्षेप यह है कि जैसे १ ईश्वर सृष्टि क्यों करता है, २ सर्व दर्शनों के पदार्थ, ३ षड्दर्शन की एकता, ४ वेद ईश्वर ने हो रचे हैं इस में युक्ति द्वारा सिद्धान्त, ५ सकल शास्त्रों की मुक्ति, ६ सकल शास्त्र में जीव स्वरूप ७ द्रव्यत्वादि जातिसिद्धिप्रकरण,आदि और विशेष यह है कि जो २ इस में पदार्थ आए हैं उनको दूसरे मतों से संख्या आदि भी प्रायः दिखला दी गई है सकल पदार्थों के लक्षण संस्कृत में दिखलाए हैं इससे विशेष पदार्थों को देखना हो तो मेरे बनाए सर्व दर्शन तत्व मार्तण्ड और व्याख्यान रत्नमहोदधि में देखो संशोधन में भी बहुत परिश्रम किया परन्तु शीघ्रता के कारण तथा मेरी मति और दृष्टि दोष से अवशिष्ट अशुद्धियों का गुणग्राहक स्वयं संशोधन करलें और इस का प्रचार करें यही मेरी बार २ बद्धाञ्जलि होकर आपकी सेवा में प्रार्थना है ।

निवेदक—काशीश्वरराजकीयपाठशालाध्यापक के॰ सी॰ आई॰ श्री ६ गङ्गाधर शास्त्रि शिष्य
गणेशदत्तशास्त्री ।


LIBRARY

ॐ

श्रीगणेशायनमः ।

नूतनजलधररुचये गोपवधूटी दुकूल चौराय ।
तस्मै कृष्णायनमः संसारमहीरुहस्य बीजाय॥१॥

भासं भासं घनश्यामं जगज्जन्मादिकारणम् ।
प्रकुर्वे कारिकावल्या निगूढार्थप्रकाशनम् ॥ १ ॥

श्री गुरुभ्यो नमः ।

परम कृपायुक्त विश्वनाथ पञ्चानन जीने वैशेषिक न्याय शास्त्र तत्व को संक्षेप से कारिकारूप में प्रकट करने हेतु अपने आरम्भ विषयग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये शिष्टाचरित मङ्गल को आचरण करके ग्रन्थ के प्रारम्भ में शिष्य शिक्षा के लिये उल्लेख किया है नूतनेति नवीन मेघों की न्याईं शोभायुक्त ग्वालों की युवती स्त्रियों के वस्त्रों के हरण करने वाले संसार रूप वृक्ष के बीज अर्थात् निमित्त कारण सकल संसार प्रसिद्ध श्रीकृष्ण देव को नमस्कार हो इस श्लोक में परमात्मा की रूपी गुणों रहित द्रव्य होने से प्रत्यक्ष विषयत्व बन नहीं सकता शब्द प्रमाण (वेद) ईश्वरोक्त होने से प्रामाण्य लाभ करसकता है जब तक ईश्वर सिद्ध न होगा तबतक वेदप्रामाण्य नहीं बनेगा अतः जगत् में परमात्मा की प्रमा अनुमान से होती है *उचित यह

* मङ्गलत्वञ्च विघ्नोत्सारणासाधारणकारणत्वे सति साध्यम् प्राचीननवीनयोर्मङ्गलेमतभेदः प्राचीनास्तु समाप्तिम्प्रति मङ्गलस्य कारणत्व स्वीकुर्वन्ति नव्यास्तु विघ्नध्वसम्प्रत्येव समा-प्तिस्तु बुद्धि प्रतिभादिकारणकलापत एवे तिवदन्ति।

किया तथाच क्षिति अङ्कुरादिकर्तृजन्य हैं कार्य्य होने से घट की न्याईं हम में से कोई कर्त्ता बन नहीं सका जो कर्त्ता है वही ईश्वर जब कार्य्य लिङ्गकानुमान से ईश्वर सिद्ध हुई तो पश्चात् परमात्मोक्त वेद भी प्रमाण होकर परमेश्वर हुआ तथाहि "द्यावाभूमी जनयन् देव एक आस्ते विश्वस्यकर्त्ता भुवनस्यगोप्ता।" द्युलोक और भूलोक का कर्त्ता और समस्त संसार का पालक परमात्मा एक है। (शं०) ईश्वर अनेक मानने से क्या दोष है (उ०) विरुद्ध इच्छा से जगन्निर्माण न होगा एक ईश्वर कहेगा जगन्नूतन दूसरा कहेगा नहीं प्राचीन रहे जिसकी इच्छा पूर्ण न होगी वही ईश्वर नहीं कहावेगा इसलिये ईश्वर एक है ॥ १ ॥

द्रव्यं गुणस्तथाकर्म सामान्यं स विशेषकम् ।
समवायस्तथा भावः *पदार्थाः सप्तकीर्तिताः ॥२॥

द्रव्य गुण तैसे कर्म सामान्य (जाति) और विशेष समवाय और अभाव यह सप्त पदार्थ वैशेषिक शास्त्र सम्मत हैं यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में भाव अभाव भेद से दो प्रकार के पदार्थ लिखे हैं और समान तन्त्र में अर्थात् न्याय में प्रमाणादि भेद से षोडश पदार्थ लिखे हैं तथा मीमांसा शास्त्र में उक्त २ पदार्थ की शक्ति को जैसे वन्हिमें दाहानुकूल सामर्थ्य ऐसे ही सादृश्यको भी भिन्न माना है तथापि इन्हीं सप्त पदार्थों में ही सर्व का अन्तर्भाव हो जाता है अतः न्यूनता नहि है/शं० प्रेक्षावत्प्रवृत्यङ्ग होने से ग्रन्थ के प्रारम्भमें † अनुबन्धचतुष्टय का निरूपण करना आवश्यक था

---

* पद जन्य प्रतीति विषयत्व द्रव्यादि सप्तान्यतमत्वं वा पदार्थत्वम् ।

† प्रवृत्युपयोगि ज्ञानजनक ज्ञान विषयत्व अनुबन्धचतुष्टयत्वम् ।

उसके बिना कहे ग्रन्थ प्रारम्भ उचित नहि (उ०) पदार्थोद्देश से हि अनुबन्ध चतुष्टय अर्थतः कह दिया है जैसे द्रव्यादि पदार्थ विषय द्रव्यादि पदार्थ तत्वावधारण प्रयोजन एतत्तत्वावधारणेच्छावान् अधिकारी और प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है (प्र०) उद्देश मे द्रव्य काही नाम पूर्व क्यों किया क्यों न गुणादि मे से किसी दूसरे का (उ०) द्रव्य ही अपवर्ग भागी है द्रव्य ही सर्वका आश्रय है अतः इसीका प्रथम ग्रहण किया (प्र०) द्रव्य किसको कहते है (उ०) गुणवत्वाधि करण को अथवा द्रव्यत्व जाति वाले को द्रव्य कहते है (प्र०) पूर्व को क्यों छोड़ते हो (उ०) न्याय मे द्रव्य उत्पत्ति क्षण मे निर्गुण ही उत्पन्न होता है इस लिये उत्पत्ति क्षण मे द्रव्य मे गुण वत्व लक्षण न जाने से अव्याप्ति रूप लक्षण दोष लगेगा जब द्रव्य त्वजाति को लक्षण माना तो अव्याप्ति हट गई क्योंकि द्रव्यत्व जाति उत्पत्ति क्षण के द्रव्य मे भी है अति व्याप्ति अव्याप्ति और और असम्भव इन तीन दूषणों से रहित धर्म को लक्षण कथन करते है जिस का लक्षण करना इष्ट हो उसे लक्ष्य कहते जो लक्ष्य नहि वह अलक्ष्य है अलक्ष्य मे लक्षण जानेको अति व्याप्ति कह ते हैं जैसे गौ का लक्षण शृंगित्व किया तो शृंगित्व अलक्ष्य महिषी मे भी जाता है अतिव्याप्ति दोष हुआ दूसरा गौ का नील रूप वत्व लक्षण किया वह पीत गौ मे नहि जाता परन्तु सर्व गौ लक्ष्य है अतः एक देश लक्ष्य के पीत मे न रहने से अव्याप्ति हुई और असम्भव वह है जो लक्ष्य के किसी एक देश मे भी नहो जैसे गौका एकशफवत्व लक्षण किया तो यह गौ मात्र मे नहि रहता अपितु रासभादि में रहता है अतः तीनों दोषों से शून्य गौ का लक्षण शृंगसास्नावत्वं युक्त है ।

क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालादिग्देहिनोमनः ।
द्रव्याण्यथगुणारूपंरसोगन्धस्ततः परं ॥ ३ ॥

स्पर्शः संख्या परिमितिःपृथक्त्वञ्चततःपरम् ।
संयोगश्चविभागश्चपरत्त्वापरत्वकम् ॥ ४ ॥
बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छाद्वेषौयत्नोगुरुत्वकम् ।
द्रवत्वंस्नेहसंस्कारावदृष्टंशब्दएवच ॥ ५ ॥

क्षितीति, क्षिति, पृथिवी, अप्, जल, तेजः, वन्ह्यादि, मरुत् वायु, व्योम, आकाश, काल, समय, दिक् दिशा, देही, आत्मा, मन, यह नव द्रव्य हैं (शं०) यदि देही से आत्मा को ग्रहण करते हो तो केवल जीवात्मा काही होगा क्योंकि जीव का ही शरीर होताहै परमात्मा का नहि (उ०) भूतावेश न्यायसे यही जीवों के कर्मों से परमात्मा का भी देह शास्त्र सम्मत है, यद्यपि मीमांसकतम को नवद्रव्यातिरिक्त द्रव्य मानते हैं और युक्ति भी देते हैं कि यह प्रसिद्ध द्रव्यों से विरुद्ध धर्मों वाला है रूपि द्रव्य पृथिवी जल तेजः यह सर्व आलोक सह कृत नेत्र से गृहीत होते हैं और यह तो निरपेक्ष से ही गृहीत होता है और नीलतम चलता है इस प्रतीति से रूप वाला और क्रिया वाला होने से भी द्रव्य लक्षण इस में घटित होता है तथापि प्रौढ प्रकाशक तेजः सामान्याभाव ही को तम मानने में लाघव है और चलति प्रतीति भी भ्रमरूप है (शं०) तमोभावही तेज मानलें तो क्या हानि है (उ०) उद्भूतस्पर्शके आश्रय का बाध प्राप्त होगा वह अनिष्टहै । अथेति रूपरसगन्धस्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोगविभाग परत्व और

गुणवत्वं द्रव्यत्वजातिमत्वं वा द्रव्यस्यलक्षणम् ।

२ द्रव्यकर्मावृत्तिजातिमत्वं गुणसामान्यलक्षणम् ॥

गुणत्वजातिसिद्धिस्तु द्रव्यकर्म भिन्न सामान्यवति या कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नाकारणतात्वात् दण्डत्वावच्छिन्न कारणतावत् ॥

अपरत्व बुद्धि (ज्ञान) सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न गुरुत्व द्रवत्व स्नेह(चिक्कणता) संस्कार और धर्म और अधर्म ये २४गुणहैं इन्हीं गुणों में से सप्तदशको तो कणादजी ने कण्ठ से सूत्र में ही पढ़ा है और आगे चकार पढकर सप्तका समुच्चय किया है (शं॰) लघुत्वमृदुत्व कठिनत्व भी और गुण हैं तो २४ कैसे (उ॰) लघुत्व गुरुत्वाभाव रूप ही है और मृदुत्व कठिनत्व भी अवयव संयोग विशेष ही हैं अतः आधिक्य शङ्का व्यर्थ है ॥ ५ ॥

उत्क्षेपणं ततोऽवक्षेपणमाकुञ्चनंतथा।
प्रसारणञ्चगमनं *कर्माण्येतानि पञ्चच ॥६॥

उत्क्षेपणेतिउत्क्षेपणउर्द्धदेश संयोगहेतुकर्म अवक्षेपण अधोदेश संयोग हेतु आकुञ्चन अङ्गकौटिल्य संपादककर्म प्रसारण ऋजुता सम्पादककर्म गमन उत्तरदेश संयोगजनककर्मये—पञ्चविधकर्म हैं यह कर्म यह कर्म इस अनुगत प्रत्यय से कर्मत्वजाति तो प्रत्यक्ष सिद्ध है ॥ ६ ॥

भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्द्ध्वज्वलनमेवच तिर्य्यग्
गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥७॥

भ्रमणेति भ्रमण चक्कर रेचन तिलकना स्यन्दन प्रस्रवण ऊर्द्ध ज्वलन अग्निकर्म तिर्य्यग्गमनतिरछाचलनासर्पादिक्रिया, ये सर्व गमन के ही अन्तर्गत होते हैं अतः अधिक नहीं। (शं॰) उत्क्षेपणादिभी गमन में आसक्ते हैं तो फिर उनको पृथक् क्यों लिखा (उ॰) मुनिकी स्वतन्त्रेच्छा है इस में प्रश्न नहीं होता है।

---

* संयोग भिन्नत्वेसति संयोगासमवायिकारणत्वम् कर्मत्वम्

*सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परञ्चापरमेव च।
द्रव्यादि त्रिकवृत्तिस्तु +सत्ता परतयोच्यते ।८।
परभिन्ना च या जातिः ‡ सैवापरतयोच्यते ।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥ ९ ॥
व्यापकत्वात्पराऽपि स्याद्व्याप्यत्वादपराऽपि च ॥

सामान्येति सामान्य (जाति) दो प्रकार का है एक पर अर्थात् अधिक देश में रहने वाली दूसरा अपर अर्थात् न्यून में वर्तने वाली द्रव्यादि तीनों में रहने वाली जाति सत्ता है और वही परा भी कहाती है जिसके होने से ही द्रव्यं सत् गुणः सन् कर्मसत् यह प्रयोग होता है भिन्न अनेक व्यक्तियों में एक प्रकार का बोध जनक पदार्थ जाति होती है इसी जाति को बौद्ध नहीं मानते क्योंकि यह नित्य पदार्थ है नित्य उसको कहते हैं जिस का न तो कभी प्रागभाव और नाही ध्वंस हो ऐसा पदार्थ आकाश है

---

* सत्ता द्रव्यादिषु त्रिषु केवलमनुगतप्रत्ययञ्जनयति नतु व्यावृत्तिमपि अतःसामान्यमेवोच्यते द्रव्यत्वादिकन्तु स्वाश्रयेष्वनुगते तदुभयप्रत्ययोत्पादकत्वेन सामान्यविशेषोभयरूपम् नव्यास्तु सद्व्यवहारस्य सार्वत्रिकत्वात्सत्तान जातिरपितु भावत्वमिति।

+ नित्यत्वे सत्यनेक समवेतत्वं जातेर्लक्षणम्।

‡ जातिःखलु व्यक्ति मन्तरा नावतिष्ठतेऽतोजातिव्यक्त्योर्नित्य सम्बन्ध स एवसमवाय पदेनोच्यते ॥ ० सकलभावकार्यध्वंसो महाप्रलय इत्युक्तलक्षणस्यान्महाप्रलयस्य तत्रसमस्तव्यक्तिनाशाज्जात्यवस्थानं क्वेतिचेन्नमहाप्रलयानङ्गीकारादितरथा भाव कार्य्यान्तःपातित्वाददृष्टानामपि तन्नाशेसृष्ट्यनुदय प्रसङ्गः स्यान्नहि बीजप्रयोजनाभ्यां विनोत्पत्तिरिति नव्याः।

और बौद्ध तो पदार्थमात्र को क्षणिक (द्वितीय क्षणध्वंस प्रतियोगी) मानते हैं उनके मत में कोई भी नित्य नहीं अतः अपने मत में जातिरूप भेदक धर्म के न रहने से गोत्व धर्म से जो गौ का अश्व से भेद सिद्ध होताहै गोत्व को अतद्व्यावृत्ति रूप मान कर निर्वाह कियाहै तत् पद से गोत्व धरा उसकी व्यावृत्ति नाम भेद अश्वपर रहा फिर भेद का अभाव गौ पर आया इस तरह गौ अश्व से भिन्न सिद्ध हुई सो यह प्रकार ठीक नहीं खण्डन प्रक्रिया से ग्रन्थ बढ़ने का भय है अतः विराम करते हैं ॥ ८ ॥

पर भिन्न जो जाति वही अपर कहाती है द्रव्यत्व आदि पद से गुणत्वादि पर और अपर कहाती है ॥ ९ ॥ व्यापक होने से अर्थात् अधिक देश में वर्तने से पर और व्याप्य होने से अल्प देश में रहने से अपर जैसे द्रव्यत्व पृथिवीत्व अपेक्षा से अधिक देश अर्थात् नव द्रव्यों में रहने से तो पर और सत्ता की अपेक्षा न्यूनदेश में रहने से अपर भी है क्योंकि सत्ता द्रव्य से अतिरिक्त गुण और कर्म में भी रहती है।

"अंन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः* परिकीर्तितः ॥१०

विशेष का निरूपण करते हैं अन्त्येति अन्त में जो हो उसे अन्त्य कहते हैं अन्त को सापेक्ष होने से किस का अन्त कल्पना का अन्त अर्थात् घटादि पदार्थों का द्व्यणुक पर्य्यन्त अपने २ अवयव भेद से भेद सिद्ध होता है परमाणुओं के अवयव नहीं हैं अतः पृथिवी

---

* विशेषलक्षणन्तु सामान्यशून्यत्वेसति सामान्यभिन्नत्वे सति समवेतत्वम् स्वतो व्यावर्तकत्वं वा । नव्यनैयायिका भट्टकौमिल प्रभाकरादयस्तु विशेषन्नोररी कुर्वन्ति विशेषाणां यथैव स्ववृत्तिधर्मं विनैव व्यावृत्तत्वं तथैवनित्यद्रव्याणामपि न तु विशेषापेक्षणमिति

परमाणु से जातीय परमाणु का भेद सिद्ध करने के लिये विशेष की कल्पना की जोकि नित्य द्रव्यों में रहते हैं और अनन्त हैं जिनका दूसरा कोई भेदक धर्म नहीं है वह स्वतः ही व्यावृत्त स्वरूप हैं अतएव उनमें विशेषत्व धर्म को जाति नहीं माना नहीं तो विशेष के स्वरूप की हानि होगी अतः विशेष में विशेषत्व उपाधि है जाति भिन्न धर्म को उपाधि कहा है यद्यपि परमाणुओं में हमारे प्रत्यक्ष विषयता ही नहीं तो भेद व्यवहार की अपेक्षा ही कैसे तथापि योगियों को तुल्याकृति परमाणुओं में और मुक्तात्माओं तथा मन आदि में से एवमयं यह प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी सं० केवल योगजधर्म माहात्म्य से ही माने तो क्या होगा, ऐसा नहीं होता अयुक्त में युक्त प्रत्यय होगा तो भ्रम ही सिद्ध होगा प्रमा नहि ॥ १० ॥

घटादीनांकपालादौद्रव्येषुगुणकर्मणोः ।
तेषुजातेश्चसम्बन्धःसमवायःप्रकीर्तितः॥११॥

अवयवियों का अवयवों में, गुण और कर्मों का द्रव्यों में और द्रव्य गुण कर्मों में जाति का चकार से नित्य द्रव्य और विशेषों का जो सम्बन्ध वह समवाय कहाता है यह

---

१ नित्यत्वेसति सम्बन्धि भिन्नत्वे च सति सम्बन्धत्वं समवायत्वम् नित्यत्वमात्रोक्तावाकाशादावति प्रसक्तिःस्यात्तदर्थं संबन्धत्व मुपात्तं सम्बन्धत्वं समवायत्व मित्युक्ते संयोगादावति प्रसङ्गोमाभूदिति नित्यत्वग्रहणं तावतापिस्वरूप सम्बन्धेऽतिव्याप्ति स्यात् स्वरूप सम्बन्धानामानन्त्येनाकाशादिस्वरूपसम्बन्धानांनित्यत्वमेवाति तदर्थं सम्बन्धि भिन्नत्वोपादानं स्वरूपसम्बन्धस्य च सम्बन्धि रूपत्वेन तद्भिन्नत्वाभाव इति नाति व्याप्तिः ।

सम्बन्ध नित्य और एक न्याय और वैशेषिक शास्त्र सिद्ध है परन्तु कार्य्य कारण के परस्पर दृष्ट कपालयोर्घट. इन कपालों में घट है इस प्रात्यक्षिकी प्रतीतिगम्य समवाय है यह नैयायिक मानते हैं और समवाय अतीन्द्रिय अनुमेय वैशेषिक मत है अनुमान (प्र०)गुण क्रियादि से युक्त बोध विशेषण विशेष्य और उन के परस्पर सम्बन्ध विषयक है विशिष्ट बोध होने से दण्डी पुरुष इस विशिष्ट बोध की न्याई विशिष्ट बोध प्रकृतमें हुआ नील घट यहां पर नील विशेषण घट विशेष्य जो इनका सबन्ध होगा स्वरूप सम्बन्ध मानने में गौरव होगा सयोग के बल द्रव्यों का ही होता है और अन्य सम्बन्ध के बाध से अतिरिक्त नित्य एक समवाय सम्बन्ध की सिद्धि हुई अ०)समवाय के एक मानने से जो समवाय रूपका है वही तो स्पर्श का है तो वायु रूपवान ऐसा ज्ञान होना चाहिये क्योंकि वायु में भी रूप समवाय है समवाय की एक होने से(उ०)सम्बन्ध सत्ता ही केवल विशिष्ट बोध में नियामक नहि प्रत्युत सम्बन्ध सम्बन्धि दोनों की सत्तानियामक हैं तो वायु मे यद्यपि रूप समवाय है भी तथापि रूप प्रति योगिक समवाय नहीं अर्थात् रूपके न होनेसे रूपवान् वायु यह ज्ञान नहि होता वायुमें स्पर्श प्रति योगिक समवाय है अतःस्पर्शवान् वायु यही ज्ञान होता है कारणाभाव से ही समवाय नित्य है यदि इसका भी कोई समवायि कारण मानें तो उसमें समवाय का समवाय रहेगा तो अनवस्था सम्बन्ध की पडी अतः यह नित्य है॥ ११॥

[1]अभावस्तु द्विधा[2]संसर्गान्योन्याभावभेदतः।

---

१ प्रतियोगिज्ञानाधीन-ज्ञानविषयत्वमभावत्वम् २ भेदेतराभावत्वं संसर्गाभावत्वम्।

[४]प्रागभावस्तथा[५]ध्वंसोप्यन्त्यन्ता[६]भाव एवच।१२
एवंत्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते।

टीका—अभावनिरूपण अभावस्त्विति संसर्गाभाव और अन्योन्याभावके भेदसे अभाव दो प्रकार का है प्रागभाव अर्थात् कार्य्य की उत्पत्ति से पर्व अपने कारण में जो कार्य्य का अभाव उसको प्रागभाव इसी को प्रतियोगीजनक अभाव भी कहते हैं और अपने अधिकरण में उत्पत्ति के अनन्तर मुद्गर पातादि स जायमान जो अभाव उसको ध्वंस कहते हैं इस कपालों में घट नष्ट हुआ इस प्रतीति का विषय होता है और वायु में जो रूपाभाव वह अत्यन्ताभाव है क्योंकि वस्तु की तीन काल सत्ता न होने से जो निषेध प्रत्यय है वह अत्यन्ताभाव को गोचर कर्ता है घट पट का जो परस्पर भेद घट पट नहीं है इसी को अन्योन्याभाव कहते हैं पर्वोक्त प्रागभावादि भेद से संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है। मीमांसिक अभाव को अधिकरण स्वरूप मानते हैं भूतल मे घटाभाव भूतल स्वरूप जल में जल स्वरूप इस का खण्डन प्रकार यह है कि भूतल मे घट नहीं है यह बुद्धि यदि केवल भूतल को ही विषय करती तो घट वाले स्थान में भी इस ज्ञान का प्रसंग होता कदाचित् कहै केवल भूतल को गोचर करती है तो नहीं

---

३ तादात्म्य सबन्धा वच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावत्व मन्योन्याभावत्वम् ४ प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिप्रतियोगिजनका भविष्यतीतिव्यवहारहेतुःप्रागभावः ५प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिः ध्वस्तव्यवहारहेतुः ध्वंस ॥

६ त्रैकालिक संसर्गावच्छिन्न प्रति योगिताका भावत्वमत्यन्ताभावत्वम् ॥

कह सत्ते अतिरिक्त कैवल्य का स्वीकार नहीं है और अभेद में आधारा धेयभाव भी नहीं बन सका और जल में गन्धाभाव गन्ध स्वरूप मानने से जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का ग्रहण होता है उसमें रहने वाली जाति और उसके अभाव का भी उसी से ग्रहण होता है इस नियम से जल का ग्रहण घ्राणेन्द्रिय से प्राप्त होगा परन्तु होता नहीं अधिकरण भिन्न अभाव को मानने से लाघव भी होगा अतः अभाव पृथक् पदार्थ है ॥ १२ ॥

सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते *॥१३॥

टीका-अब मुक्ति के उपयोगी पदार्थों के साधर्म्य अर्थात् समान धर्म और वैधर्म्य अर्थात् विरुद्ध धर्मों को कहते हैं सप्ताना मित्यादि ग्रन्थ से वैशेषिक शास्त्र में जो साधर्म्य वैधर्म्य पूर्वक पदार्थ ज्ञान है उसी को मुक्ति का परम हेतु कहा है निरुक्त सप्त पदार्थों का समान धर्म ज्ञेयत्व ज्ञान विषयत्व आदि पद से अभि· धेयत्व अभिधा,नाम संकेत उससे वाच्यत्व है ऐसे ही प्रमेयत्वादि भी कहा है अर्थात् सर्व पदार्थ ज्ञानगोचर है जो अस्मदीय ज्ञान विषय नहीं भी तथापि परमात्मा के ज्ञान के विषय तो अवश्य हैं जिससे ईश्वर सर्वज्ञ है ॥ १३ ॥

---

* द्रव्यादि सप्तानाम्प्रमेयत्वादिकं समानो धर्मः। द्रव्यादि षट्कस्य भावत्वम् भावत्वंसत्यनेकत्वं समवायित्वञ्च द्रव्यादि पञ्चानां साधर्म्यम्। एतत्पदत्रयन्तु भावत्वमात्रोक्तौ समवायेऽति प्रसक्तिःस्यादित्यनेकत्वग्रहणं तावतापिदोषोऽभावेपतेदितिभावत्व-विशेषणम्। समवेत समवेतत्वं द्रव्यादि चतुर्णां साधर्म्यम्। सत्ताजा त्याश्रयत्वं द्रव्यगुणकर्मणां समानो धर्मः। कर्मान्हतिजातिमत्वं द्रव्यगुणयोः साधर्म्यम्।

द्रव्यादयः पञ्चभावा अनेके समवायिनः ।
सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्या गुणादिर्निर्गुणक्रियः ॥१४॥
सामान्यपरिहीनास्तु सर्वेजात्यादयोमताः ।

टीका—द्रव्यादीति द्रव्य से लेकर पांचों का भाव होकर अनेक होना और समवायि होना समान धर्म है इस प्रकरण में सर्वत्र समान धर्म स्वयं समझ लेना। और आदि के तीन द्रव्य गुण कर्मों का सत्तावत्व अर्थात् सत्ता जाति का आश्रयत्व और गुण से लेकर छः पदार्थों का गुण रहितत्व तथा क्रिया रहितत्व साधर्म्य है (प्र०) एक रूप रस से पृथक् है इस प्रतीति बल से गुण रूप से भी एकत्व-संख्या और रसावधिक पृथक् गुण सिद्ध ही है तो गुण साधर्म्य निर्गुणत्व कैसे कहा (उ०) एकार्थ समवाय से केवल रूप में संख्या प्रतीति है और साधर्म्यादि प्रकरण में तो समवाय सम्बन्ध से गुणवत्व इष्ट है ॥ १४ ॥

और जाति से लेकर जितने पदार्थ हैं उनका सामान्या नधिकरणत्व साधर्म्य है क्योंकि जाति में जाति मानें तो अनवस्था हो ॥

पारिमाण्डल्य भिन्नानां कारणत्वमुदाहृतं*॥ १५॥

टीका—पारिमाण्डल्य परमाणु परिमाण तथा द्व्यणुक परिमाण से भिन्न पदार्थों का कारणता रूप साधर्म्य है। (प्र०) कारण के गुणों से कार्य्य के गुण उत्पन्न होते हैं तो परमाणुओं

*(प्र०)प्रत्यक्षे विषयस्य कारणत्वाद् योगिज्ञानस्यच परमाणु परिमाणेऽप्यन्याहतत्वात्कथं परमाणुपरिमाणस्य नकारणत्वमिति चेच्छृणु तत्रयोगीतरप्रत्यक्षे विषयस्य कारणत्वमित्यभि प्रेतत्वादि तरथानामतादि बोधोयोगिनामपि दुर्लभोभवेदिति ॥

से उत्पन्न होने वाले द्वयणुक के तथा द्वयणुक में उत्पन्न होने वाले त्र्यणुक के परिमाण का उत्पादक परमाणु परिमाण और द्वयणुक परिमाण ही होगा तब कैसे उनका कारणत्वम्—धर्म्य नहीं (उ०) परिमाण का यह नियम है कि अपने सजातीय अपने से उत्कृष्ट परिमाण को हि उत्पन्न करता है जैसे कपालों के महत्परिमाण से घट का कपाल परिमाण की अपेक्षा से उत्कृष्ट उत्पन्न होता है और सजातीय अर्थात् महत् भी है इसी न्याय से परमाणु परिमाण द्वयणुक परिमाण का कारण माने तो द्वयणुक परिमाण से उत्कृष्ट नहीं है क्योंकि अणु की उत्कृष्टता, अधिक अणु होना है जैसे देवों में बड़ा देव कौन जो बहुत दयालु हो ऐसा ही दानवों में बड़ा दानव कौन जो बहुत निर्दय हो ऐसे ही द्वयणुक परिमाण भी त्र्यणुक परिमाण का सजातीय नहिं है क्योंकि त्र्यणुक का महत् परिमाण है और यदि द्वयणुक परिमाण से इस की उत्पत्ति होती तो इस में भी अधिक अणु परिमाण आता तब तो त्र्यणुक का प्रत्यक्ष भी न होता क्योंकि वक्ष्यमाण षड्विध प्रत्यक्ष में महत्व कारण है इस कारिका में पारिमाण्डल्य उपलक्षक है जो अपना बोधक होकर अपने से दूसरों का भी बोधक हो उसे उपलक्षक कहते हैं पारिमाण्डल्य ने अणु परिमाण का बोधन किया और परम महत् और परमाणुत्व और विशेष पदार्थ का भी बोधक है अर्थात् यह भी तीन किसी के कारण नहीं (शं०) तो फिर द्वयणुक परिमाण तथा त्र्यणुक परिमाण कहा से उत्पन्न हुआ (उ०) परमाणुगत द्वित्व संख्या से द्वयणुक परिमाण की और द्वयणुक गत त्रित्व संख्या से त्र्यणुक परिमाण की उत्पत्ति होती है॥ १५॥

अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता।

कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम् ॥ १६ ॥
समवायि कारणत्वं ज्ञेयमथाप्य समवायि हेतुत्वम् ॥
एवं न्यायनयज्ञैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम् ॥१७॥
यत्समवेतं कार्य्यं भवति ज्ञेयन्तु समवायि जनकं तत् । तत्रासन्नंजनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात् ॥ १८ ॥*

टी०—अवकारण स्वरूप कहते हैं अन्यथा सिद्धि से जो रहित हो कार्य्य की उत्पत्ति क्षण से नियम से पूर्व रहे उसे कारण कहते हैं और वह तीन प्रकार का कहा है ॥ १६ प्रथम का नाम समवायि दूसरा असमवायि तृतीय निमित्त कारण न्याय वेत्ताओं ने कहा है ॥ १७ ॥ जिसमें समवाय संबन्ध से कार्य्य उत्पन्न हो उसे समवायि कारण जानना चाहिये और समवायि कारण में रहनेवाले कारण को असमवायि कारण और इन दोनों से भिन्न कारण को निमित्त कहा है ॥१८॥ कारण विचार संक्षेप से यह है कि तन्तुओं में पट समवाय संबन्ध से उत्पन्न होता है इसलिये पट के समावायि कारण तन्तु हुये परन्तु यावत् तन्तु संयोग हो तावत् पट उत्पन्न नहीं होता तन्तु संयोग भी पट का कारण हुआ और तन्तु संयोग तन्तुओंमें रहता है पटसमवायि

---

*अन्यथा सिद्धि शून्यत्वेसति कार्य्यनियत पूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम् समवायि कारणवृत्तित्वे सति कारणत्वमसमवायि कारणत्वम् उभय भिन्नत्वे सति निमित्तत्वम् कार्य्यत्वावच्छिन्न कार्य्यता निरूपित कारणताशालित्वं साधारण कारणत्वम् ।
कार्य्यत्व व्याप्यधर्मावच्छिन्नकार्य्यता निरूपितकारणता शालित्व मसाधारण कारणत्वम् ।

कारण तन्तुओं में रहने से तन्तु संयोग पट का असमवायि कारण बना और जबतक तन्तुवाय तुरीवेमादि न हों फिर भी पट नहीं बनता अतः यह भी सर्वकारण हुए। परन्तु न तो इनमें समवायि कारण लक्षण घटता है न हो असमवायिका अतः परिशेष से निमित्त कारण बने अन्यथा सिद्धि कहते हैं जिसके बिना कार्य्य के स्वरूप लाभ में कुछ क्षति न हो उसे अन्यथा सिद्ध कहते हैं तद्वृत्ति धर्म को अन्यथा सिद्धि जैसे घटकार्य्य के लिये रासभ यदि रासभ द्वारा मट्टी नाभी कुम्भकार लाता अपितु स्वयं लाता तो, रासभ के बिना भी घट बन गया अतः रासभ अन्यथा सिद्ध और कुलाल कारण है इसी कारण के प्रकारान्तर से दो भेद हैं साधार असाधारण जो सर्व का कारण हो वह साधारण होता है जैसे ईश्वरादि तत्तत् का जो कारण हो वह असाधारण जैसे कुलाल घट का।

येन सहपूर्वभावः कारणमादायवायस्य ।
अन्यंप्रतिपूर्वभावे ज्ञातेयत्पूर्वभावविज्ञानम् ॥ १९ ॥
जनकंप्रति पूर्ववर्तितामपरिज्ञायन यस्यगृह्यते ॥
अतिक्किमथापियद्भवेन्नियतावश्यक पूर्वभाविनः २०

अन्यथा सिद्धिस्तु पूर्वोक्तेष्वन्यथासिद्धेषु वर्तमानस्तद्धर्म विशेषः सपिकारस्तु त्रिविधोऽन्यथा सिद्धः । नवीनास्तु लघुनियत पूर्ववर्तिन एव कार्य्य सम्भवे तद्भिन्नमन्यथा सिद्धम्, इत्यनुगत लक्षणेनैक विधमेवान्यथा सिद्धम्। एवं च त्रिधापञ्चधेति प्रकारो मप्यमतिवैशद्यार्थम्, इत्याहुः । इयञ्चान्यथासिद्धिः कारणत्व विघटिका नतु सम्पादिका भवतीति ध्येयम् ।

टी०—अन्यथा सिद्धों को कहते हैं येनेति जिस कार्य्य के प्रति कारण को जिस रूप से पूर्व वर्तिता हो वह रूप उस कार्य्य के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है जैसे घट रूप कार्य्य के प्रति दण्ड दण्डत्व रूप धर्म से पूर्व वृत्ति हुआ अतः घटप्रति दण्डत्व अन्यथा सिद्ध है द्वितीय कहते हैं अथवा जिसका केवल अपना अन्वय व्यतिरेक न बने किन्तु अपने कारण के साथ ग्रहण हो वह भी अन्यथा सिद्ध है जैसे घट के प्रति दण्ड रूप अब तृतीय कहते हैं अन्य के प्रति प्रथम विद्यमानता जानकर हो जिस की प्रकृत कार्य्य में पूर्व वर्तिता मानी जाय वह भी अन्यथा सिद्ध जैसे घटकार्य्य के प्रति आकाश आकाश की शब्द समवायि कारणत्वेन सिद्धि होने से शब्द के प्रति पूर्व वृत्तित्व गृहीत हो है फिर घट प्रति पूर्व वृत्तित्वग्रहण करने से आकाश की घटकार्य्य प्रति अन्यथा सिद्धत्व है ॥ १८ ॥

चतुर्थ कहते हैं और जिसको कार्य्यजनकजनकत्व रूप से कार्य्य के पूर्ववृत्तिता ग्रहण की हो वह भी अन्यथा सिद्ध है जैसे घट के प्रति कुलाल पिता कुलाल पितृत्वेन अन्यथा सिद्धत्व कुलालत्वेन कारणता मानने से कोई हानि नहीं पञ्चम कहते हैं जिनका नियम से जिस २ कार्य्य के प्रति पूर्ववृत्तित्व है उनसे जो भिन्न सभी पदार्थ हैं वे अन्यथा सिद्ध हैं घट कार्य्य के प्रति नियम से पूर्व वर्तित्व दण्डादि को नाइम्भत्व रासभादि से है अत रासभादि घटकार्य्य के प्रति अन्यथा सिद्ध है ॥ २० ॥

एतेपञ्चान्यथा सिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम् ।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपिदर्शितम् ॥२१॥
तृतीयन्तुभवेद्व्योम कुलाल जनकोऽपरः ।
पञ्चमो रासभादिःस्या देतेष्वावश्यकस्त्वसौ ॥२२

टी०—ये पूर्वोक्त पांच अन्यथा सिद्ध हैं घटादिक कार्य्य के प्रति प्रथम अन्यथा सिद्ध दण्डत्वादिक धर्म है द्वितीय दण्ड रूपादि है॥ २१॥ तृतीय आकाश है चतुर्थ कुलाल पिता है पञ्चम रासभादि है। इन सर्व में यह पञ्चम अन्यथा सिद्ध तो आवश्यक है॥ २२॥

समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।
गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्य समवायिहेतुत्वम् २३
अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्व मिहोच्यते।
क्षित्यादीनां नवानांतु द्रव्यत्वं गुणयोगिता॥ २४

टी०—समवायि कारण होना केवल द्रव्य का ही समान धर्म है असमवायिकारण होना केवल गुणकर्म का ही समानधर्म है यद्यपि आत्मा के विशेष गुण किसी के भी असमवायि कारण नहीं तथापि असमवायि कारणत्व गुणकर्मों से भिन्नों का विरुद्ध धर्म है अर्थात् असमवायिकारण गुणकर्मों से भिन्न कोई नहीं होगा ॥२३॥ नित्य द्रव्यों से भिन्नों से आश्रितत्व साधर्म्य है यहां आश्रितत्वपद में समवायादि सम्बन्ध से रहना रूप अर्थ विवक्षित है ऐसे अर्थ में कालिक विशेषण संबन्ध से परमाणुओं

ननु परमाणूनामपि संयोगेनहस्ते स्तत्वाक्षित्यादिक्रिति चेन्न तत्संयोगस्य हस्तनियामकत्वात् पतनप्रतिबन्धकसंयोगस्यैव हस्ति नियामकत्वं ज्न्यगुरुत्वस्यैव पतन कारणतया तदभावादेव परमाणोः पतना संभवेनतत्संयोगस्य पतन प्रतिबन्धकत्वे माना भावात् अन्यथा वाय्वादि प्रतिबन्धक भावदशायां गुरुत्वेन सर्वदा परमाणूनामधः पतना पत्तेः।

के काल में रहने से अतिव्याप्ति नहीं क्योंकि कालिक संबन्धाति रिक्त सबन्ध से आधेयतत्व अभिप्रेत होने से अति व्याप्ति और अव्याप्ति कहीं भी नहीं। पृथिवी से लेकर मनः पर्यन्तों का द्रव्यत्व जातिमत्व और गुणवत्व समान धर्म है॥ २४॥

क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च ।
परापरत्व[१]मूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमीः॥२५॥
कालखात्मदिशांसर्व [२]गतत्वं परमं महत् ।
क्षित्यादि पञ्च[३]भूतानि चत्वारिस्पर्शवन्तिहि ॥
द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यात् ।

द्रव्यत्वापेक्षा व्याप्यजाति ऐसी जाति पृथिवीत्वादि होगी वही पृथिव्यादिमात्र में रहेगी तो उत्पत्ति का क्षीण घट रूप पृथिवीमें भी रही तो अव्याप्ति हट गई ॥२५॥ काल आकाश आत्मा और दिशा इन का सर्वगत्व परम महत्परिमाणाश्रयत्व समान धर्म है और पृथिव्यादि पाचोंका मूर्तत्व समान धर्म है पृथिवी जल तेज (अग्नि)वायु इन चारोंका स्पर्शवत्व समान धर्म है ।२६। और पृथिवी तेजजल वायु इन चारों का समवाय सम्बन्धसे अपनेमें द्रव्योत्पादकत्व समान धर्म जानना चाहिये स्मरण रह अव्याप्ति स्थल में सर्वत्र जाति घटित लक्षण को कार्य्य में लाओ ।

अथाकाश शरीरिणाम् ॥ अव्याप्यवृत्तिक्षणिको विशेष गुण इष्यते ॥२७॥ रूपद्रवत्व प्रत्यक्ष योगिनः प्रथमास्त्रयः ॥ गुरुणीद्वेरसवतोद्वयोर्नमित्तिकाद्रवः ॥ २८ ॥ आत्मानः भूतवर्गाश्च विशेष गुणयोगिनः ॥ यदुक्तंयस्य साधर्म्यं वैधर्म्य मितरस्य तत् ॥ २९ ॥

टीका—आकाश तथा जीवात्मा का अव्याप्य वृत्ति विशेष गुणवत्व तथा क्षणिक विशेष गुणवत्व समान धर्म है लक्षण समन्वय प्रकार यह है अपने अधिकरण में जो एक देश में अपना हि अभाव उसका जो प्रतियोगी ऐसा जो विशेष गुणउसका अधिकरण होना और तृतीयक्षण में होने वाला जो ध्वंस उसका जो प्रतियोगी उसको क्षणिक कहते हैं क्षणिक जो विशेष गुण तद्वत्व समान धर्म है जैसे शरीरावच्छेदेन आत्मा में ज्ञान गुण उत्पन्न होता है परन्तु आत्मा को व्यापक होने से आत्मा तो

हत्व में भी है यहां पर अर्थात् वृक्षावच्छेदेन आत्मा में ज्ञान नहिं होता तो अपने अधिकरण आत्मा में वृक्षावच्छेदेन जो ज्ञान का अभाव उसका प्रतियोगि ज्ञान हुआ और वह विशेष गुण भी है तद्वत्व आत्मा में रहा ऐसे ही भेरी प्रदेश में आकाश में शब्द उत्पन्न होता है और कुड्यावच्छेद से आकाश में शब्दाभाव भी है अतः पूर्वोक्त प्रकार से शब्द भी अव्याप्य वृत्ति हुआ और विशेष गुण भी है इसलिये आत्मवत् आकाश में भी अव्याप्य वृत्ति विशेष गुणवत्व समान धर्म रह गया और ज्ञान एक क्षण में उत्पन्न होता है दूसरे में स्थित और तृतीय में नष्ट होता है यहही दशा शब्द की है अतः इन दोनों को क्षणिक और विशेष गुण होने से क्षणिक विशेष गुणत्व दोनों का तुल्य धर्म हुआ ॥ २७ ॥ रूपवत्व द्रवत्ववत्व और प्रत्यक्ष विषयत्व पृथिवी, जल, तेज का समान धर्म है जल में तो सांसिद्धिक द्रवत्व है और घृतादि पृथिवी में और सुवर्णादि तेज में नैमित्तिक है निमित्त अग्नि संयोगादिक है जहां प्रत्यक्ष विषयत्व भर्जन कपालस्थ वह्नि में नहीं है वहां जाति घटित लक्षण को लक्ष्य में लावो जहां ऊष्मादि में रूपवत्व की शंका हो यहां पर तैजसत्वादि हेतुओं से रूप का अनुमान होता है पृथिवी और जल इनका गुरुत्व और रसवत्व समान धर्म है और पृथिवी और तेज का नैमित्तिक द्रवत्व (विघलना घृतादि पिण्डीभाव हेतु) समान धर्म है ॥ २८ ॥ आत्मा और पृथिव्यादि पांच इन का विशेष गुण समान धर्म है जो जिसका समान धर्म कहा है वह दूसरे का विरुद्ध धर्म जानना चाहिये जैसे पृथिवी जल का समान धर्म रस कहा है वह तेज का विरुद्ध धर्म है। क्योंकि उसम वह नहिं है ॥ २९ ॥

स्पर्शादयोऽष्टौवेगाख्य संस्कारो मरुतोगुणाः ॥

अष्टौस्पर्शादयोरूपं द्रवोवेगश्च तेजसि ॥ ३० ॥
स्पर्शादयोऽष्टौवेगश्च गुरुत्वं च,द्रवत्वकम् ॥
रूपंरसस्तथास्नेहा वारिण्येते चतुर्दश ॥ ३१ ॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश ॥
बुद्ध्यादिषट्कसंख्या दिपञ्चकंभावनातथा ॥३२
धर्माधर्मौ गुणाएते आत्मनः स्युश्चतुर्दश ॥
संख्यादिपञ्चकंकाल दिशोःशब्दश्च तेचखे ॥३३॥
संख्यादयः पञ्चबुद्धि रिच्छायत्नोऽपि चेश्वरे ॥
परापरत्वेसंख्याद्याः पञ्चवेगश्चमानसे ॥ ३४ ॥

टीका—स्पर्शेत्यादि। स्पर्श से लेकर आठ और वेगनामक संस्कार यह वायु के गुण है और स्पर्शादि आठ रूप द्रवत्व और वेग,ये ११ गुण तेज के हैं॥ ३०॥ स्पर्शादि आठ और वेग गुरुत्व द्रवत्व रूप रस और स्नेह यह चतुर्दश गुण जल में रहते हैं॥ ३१॥ और जल के गुणों में से स्नेह को त्याग कर और उसके स्थान में गन्ध का प्रवेश कराकर येही चतुर्दश पृथिवी के गुण हैं बुद्धि से लेकर छः और संख्या से लेकर पांच और भावना नामक संस्कार। ३२ धर्म और अधर्म ये चतुर्दश १जीवात्मा के गुण

१ ज्ञानात्यन्ताभावरहितत्वमात्मत्वम् आत्मनि परम. त्वञ्च सृष्टि स्थितिलय कर्तृत्वम्। नित्यज्ञानाद्यधिकरणत्वमीश्व-रत्वम्। केचित्परमात्मनि नित्यसुखमपिमन्यन्ते वास्तुतस्तु दुःखा-भाव एवतस्यानन्दः।

वेदान्तिनः सांख्याश्च मनस्येवेच्छादीन् मन्यन्ते नात्मनि तेषां सिद्धान्ते,सत्यज्ञानरूपत्वगुणत्वयोरभ्युपगमात्।

हैं संख्या से लेकर पांच काल और दिशा के गुण हैं और संख्यादि पांच और शब्द ये छः (२) आकाश के गुण हैं ॥३३॥ सख्या से लेकर पांच बुद्धि (ज्ञान) इच्छा, और यत्न ये आठ गुण परमात्मा में रहते हैं इस स्थल में इतना अवश्य जानो कि जीव में इच्छा ज्ञान प्रयत्न ये अनित्य हैं और परमात्मा के नित्य हैं यदि परमात्मा के भी नित्य न हों तो परमात्मा (३) सृष्टिकर्ता है तो सृष्टि से पूर्व निमित्तरूप शरीरादि के अभाव होने से सृष्टि की उत्पत्ति की इच्छा कैसे होती और उपादानपरमाणुओं का ज्ञान भी कैसे होता अतः ईश्वरेच्छादि नित्य हैं परत्व अपरत्व संख्यादि पांच और वेग ये आठ गुण मन के हैं ॥३४॥

१ तत्रक्षितिर्गन्धहेतुर्नानारूपवतीमता ।
षड्विधस्तुरसस्तत्र गन्धस्तुद्विविधोमतः ॥३५॥

टीका—तत्रेति अब क्रमसे पृथिव्यादिका निरूपण करते हैं उन द्रव्यों के मध्य में पृथिवी गन्धगण का हेतु अर्थात समवायि कारण है और अनेक शवल नीलादि रूपवाली है मधुरादि

(२) वेदान्तिनस्तु समस्त भूतष्वपि शब्दगुणमुररीकुर्वन्त तन्नयं पञ्चीकरण प्रक्रियाङ्गीकारात् तथया भूतपञ्चकेऽपि पञ्चतन्मात्रजन्यत्वं नास्त्याकाशस्यापि नित्यता श्रुतिव्याकोपात् विहतकरवाणीति श्रुतेः तत्रविहतकरणस्य पञ्चीकरणोपलक्षकत्वमिति। मायया योगिनस्च तथैवमन्यन्ते पृथिव्या घटघटेति शब्दोवायोः सीसीति जले चलु चुल ध्वनिरग्नेर्धगधगेति ।

(३) उपादानापरोक्षज्ञान चिकीर्षाकृतिमत्त्व कर्तृत्वम् ।

१ गन्धवत्व गन्ध समानाधिकरण द्रव्यत्व व्याप्य जातिमत्व वा पृथिव्या लक्षणम् तादृशजातिश्च पृथिवीत्वमेवतच्च उत्पत्तिक्षणेघटादौ उत्पन्न विनष्टेच द्रव्यप्यस्तीतिनाव्याप्तिः।

भेद से छः प्रकार का रस भी पृथिवी में है जल में केवल मधुर ही रस है जिस स्थान में जल में कटु आदि भी रस प्रतीत हो वह उपाधि से पृथिवीका ही जानना और सुरभी असुरभी भेद से दो प्रकार का गन्ध भी पृथिवीका माना है (शं०) पाषाणरूप पृथिवी में गन्ध नहिं है तो गन्ध पृथिवी का लक्षण वहां पर अव्याप्त होगा।

(उ०) पाषाण में भी गन्ध है परन्तु (२) अनुद्भूत होने से कारण प्रतीत नहि होता अन्यथा उसके भस्म (चूना) में गन्ध कहां से आता।

(शं०) भस्म (चूनें) में गन्ध होने से पाषाण में गन्ध है कैसा जाना जाय।

(उ०) जो द्रव्य जिसके नाश से उत्पन्न हो, वह उसी द्रव्य के कारण का कार्य होता है यह नियम है तो भस्म रूप द्रव्य पाषाण रूप द्रव्य के नाश से उत्पन्न हुआ है इस वास्ते पाषाण के कारण पृथिवी परमाणुओं का ही कार्य है जब पृथिवी परमाणुओं के कार्य भस्म में गन्ध है तो पाषाण में गन्ध अवश्य होगा क्योंकि पाषाण कारण और तद्भस्म कारण एक हैं ॥ ३६

स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः ।

टी०—अनुष्णा शीत स्पर्श भी पृथिवी का जानना योग्य है अनुष्णाशीत स्पर्श तो वायु का है परन्तु पाकजनहि जहां पटादि में उक्त स्पर्श नहिं वहां जाति घटित लक्षण में तात्पर्य लेना चाहिये।

(२) सार्वदिकप्रत्यक्षाविषयीभूतगन्धानधिकगन्धवत्त्वमनुद्भूतगन्धवत्त्वम् । यत्र क्वाचिज्जलेऽपिसौरभ्यमानंस्यात्तत्रापि पृथिव्या एवगन्धोऽनुमन्तव्यः प्रतीतिस्तु स्वाश्रयसंयुक्तत्वसंबन्धेनाऽथ यनेया स्वगन्धः तदाश्रयः पृथिवी तत्संयुक्तत्वंजले एवमन्यत्राप्य व्यवसेयम्।

नित्याऽनित्या च सा द्वेधा [1] नित्या स्या [2] दणुलक्षणा ३६
[3] अनित्या तु तदन्या स्यात् सैवावयवयोगिनी ।

टीका—नित्य और अनित्य भेद से वह पृथिवी दो प्रकार की है उसमें परमाणु स्वरूप पृथिवी तो नित्य है और उससे भिन्न कार्य्यरूप पृथिवी सर्व ही अनित्य है और वही कार्य्यरूप ही पृथिवी सावयव भी है, सावयव कहने से यह प्रयोजन है कि बौद्ध परमाणु समुदाय को हि घट व्यवहार करते हैं उनके मत मे द्व्यणुकादि क्रम से महावयवी पृथक् नहिं उत्पन्न होता अतः उनके मत में अरुचि प्रकट करते हुये कहते हैं कि सैवावयव योगिनी इति अरुचि में बीज यह कि परमाणुओं को अतीन्द्रिय होने से तत्समूह घटादि को भी अतीन्द्रियत्व होगा तो घटादि

---

१ य स्मान्नाल्पतरमस्ति यः परमोऽल्पस्तम् निषसते । "यं तदवगाल्पीयोंऽस्ति, तं परमाणुं प्रचक्षमहे" इति । (वात्स्या०भा० ४ । २ । १६ ।) यथा—जालसूर्य मरीचिस्थं यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः । तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते" इति । सच जन्यद्रव्याव- यवः, अतीन्द्रियः, निरवयवः नित्यश्चेति नैयायिक वैशेषिक सि- द्धान्तः । क्षणभङ्ग वादिनो बौद्धास्तु परमाणु मात्मप्युत्पादस्मना ग्रहञ्च स्वीकुर्वन्ति तत्सिद्ध्यनुमानञ्च जालसूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मं रजः सावयवं चाक्षुषद्रव्यत्वात् पटवत् । त्र्यणुकावयवोऽपि साव यवः महदारम्भकत्वात् तन्तुवत् यदवयवः परमाणुर्नित्यः का- र्यत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गादिति ।

२ ध्वंसाप्रतियोगित्वेसति प्रागभावाप्रतियोगित्वं नित्यत्वम

३ ध्वंसप्रतियोगित्वं,अनित्यत्वम । आरम्भवादः कणभक्षपक्षः सघातवादस्तु भदन्तपक्षः । साङ्ख्यादिपक्षः परिणामवादः वेदान्त पक्षस्तु विवर्तवादः ॥ १॥

का प्रत्यक्ष न होगा क्योंकि प्रत्यक्ष में महत्त्व को कारणता है किञ्च जब मुद्गरपात से घट नष्ट हुआ तो बौद्ध मत में कपाल प्रत्यक्ष नहिं हुआ चाहिये क्योंकि उनके मत में परमाणु पुञ्ज से रचित घट है कपालों से नहीं इसी तरह बौद्ध सम्मत संघात वादमें अनेक दोष हैं अधिक लिखनेसे ग्रन्थ बढ़नेकाभय है इसलिये न्याय वैशेषिक स्वीकृत आरम्भवादही युक्तियुक्त होनेसे ग्राह्य है।

साचत्रिधाभवेद्देह मिन्द्रियंविषयस्तथा ॥ ३७ ॥

टीका—वह कार्य्य रूपपृथिवी देह इन्द्रिय और विषय भेदसे से तीन प्रकार की है ॥ ३७ ॥

योनिजादि भवेद्देह[1]मिन्द्रि[2]यं घ्राण लक्षणम् ।

विषयो[3] द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः॥३८॥

---

१ चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्। न्या॰ द॰ (१।१।११) अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टा भोगेन्द्रियाश्रयत्वं शरीरत्वम्।

२ शब्देतरोद्भूत-विशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारण मनः संयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्। तदर्थश्च शब्दादितरे ये उद्भूता विशेष सन्निकाश्च गुणास्तेषां अनाश्रयत्वे सति ज्ञानस्य कारणो भूतो यो मनः संयोगः (इन्द्रियैः मनसः संयोगः) तदाश्रयत्वम्।

तच्च प्रत्यक्ष प्रमाण मित्युच्यते तत्सिद्धिस्तु ज्ञान क्रिया सकरणिका क्रियात्वात् छिदिक्रियावत् रूपादिषु गन्ध मात्र ग्राहक त्वमेव तस्य पार्थिवत्वानुमापक मित्येव मन्तव्यमयमेवन्याययोरसमा दीनाञ्च अलीयत्वाटावनुसन्धेय इति।

३ साक्षात्परम्परयावोप—भोगसाधनत्वे सति जन्य-द्रव्यत्वं विषयत्वम्।

टी–योनिज,अण्डज और जरायुज भेदसे अयोनिज,स्वेदज और उद्भिज्ज भेद से दो २ प्रकार के जो शरीर हैं यह सर्व पृथिवी के शरीर हैं (शं०) शरीरमें पंचही भूतों की प्रतीति होती है तो केवल पृथिवी का हि कैसे कहा (उ०) यद्यपि पांच ही शरीरमें दृष्ट होते हैं तथापि जिस का प्राधान्य होता है व्यवहार उसी से होता है अन्यचारों केवल निमित्त हैं और पृथिवी तो असाधारण कारण है अतएव लय दशामें श्रुति भगवती कथन करती है "सूर्यंस्तेचक्षु र्गच्छतात् पृथिवीन्ते शरीरम्" घ्राण इन्द्रिय भी केवल पृथिवी से ही उत्पन्न हुआ है अत: घ्राण इन्द्रिय पृथिवी का है द्वयणुक से ब्रह्माण्ड पर्यन्त पार्थिव पदार्थ सर्व विषय रूप पृथिवी है जिनका अण्डजादि में अण्डज पक्षी और सर्पादिकों का शरीर है स्वेदज यूकादि, का और उद्भिज्ज वृक्षादिकों का है (श० वृक्षादिक भी शरीरी है इसमें क्या प्रमाण है। (उ०) आध्यात्मिक वायु (प्राण) रूप हेतु से अनुमान होता है (श०) उसी में क्या प्रमाण (उ०) वृक्षके काटने पर फिर कुछ समय के अनन्तर उसी रूपमें दीखता है चैत्र के शरीर की न्याई इस से जानते हैं कि इस में प्राणवायु का सबन्धहै सामान्य ज्ञान होनेसे प्रत्ययस्पष्ट नहींहोता इसीकी पुष्टि में शब्द प्रमाण है " गुर्वं हुं कृत्य त्वं कृत्य विप्रं निर्जित्य वादत: । श्मशाने जायते वृक्ष: कंक गृध्रोप सेवित:" शरीरत्वजाति नहीं है क्योंकि पृथिवीत्व के साथ इस का संकर है और संकर जाति बाधक है इन्द्रियत्व भी जाति नहीं है ॥ २८ ॥

वर्णः शुक्लोरसस्पर्शौ जले[1] मधुर[2] शीतलौ[3] ।
स्नेह[4]स्तत्र द्रवत्वं तुसांसिद्धिक मुदा हृतम् ॥३९॥
नित्यतादि प्रथमवत् किन्तु देह मयो निजम् ।
इन्द्रियं रसनं[5] सिन्धु हिमादिर्विषयो मतः ॥ ४० ॥

टी०—अब जल का निरूपण करते हैं वर्णेति जल में वर्ण शुक्ल है रस मधुर है और स्पर्श शीतल है स्नेह जल मात्र वृत्ति है और द्रवत्व स्वसांसिद्धिक है (शं०) यमुना नदी के जल में कालिमा प्रतीत होती है तो जल में श्वेत ही रूप क्यों कहा (उ०) यमुना नदी के आश्रय भूतल में श्यामता है वही जल में प्रतीत होती

१ शीतस्पर्शसमानाधिकरण द्रव्यत्व व्याप्यजातिमत्वं जलस्य लक्षणम् ।

२ (शं०) जले हरीत की भक्षण व्यङ्ग्य स्तावन्मधुर रसः प्रत्यपादि तन्न सङ्गते जलसंयोगाद्धरीत क्यां मेव माधुर्योत्पत्तिः किमिति नाङ्गी क्रियेत (उ०) पाषाण्य हरीत,क्या मपि जल संयोगेन मधु रिमोत्पत्त्यापत्तेः ।

३ शीतं शिलातल मिति प्रत्ययस्तु स्वसमवायि संयोग संबन्धावत्त: ।

४ जलीयत्वेमति रसग्रहजनकत्वं रसनेन्द्रियत्व—मेवमग्रे स्वयमूह्यम् ।

५ स्नेहस्तु जल एव घृतादावपि तदुपष्टम्भक जलस्यैव स्नेहः स्नेहोद्विविधोऽपकृष्टः प्रकृष्टश्चेति जलेऽपकृष्टो घृतादि वृत्तिजले प्रकृष्टः प्रकृष्टस्य दहनानुकूलत्वम् ।

जलं वायु विशेष एव न तु द्रव्यान्तर मिति वृथ विद्या विशारदाः ।

है अतएव उस जल का आकाश में प्रक्षेपण करने से औष्ण्य ही उपलब्ध होता है (शं०) जल में तो कोई भी रस नहीं प्रतीत होता तो कैसे कहा मधुर है (उ०) उस में अनुत्कट माधुर्य है और हरीत की भक्षण के अनन्तर जल पान करने से उस में माधुर्य भी स्पष्ट अवगत होता है ऐसे ही यह शिला शीतल है वा यह जल उष्ण है यह दोनों प्रत्यय भी क्रम से जल और तेज के सम्बन्ध प्रत्यक्ष ही जानने योग्य हैं ॥ ३९ ॥

नित्येति जलमें नित्य और अनित्यादि व्यवहार पूर्व अर्थात् पृथिवी की न्याईं करने चाहिये केवल पृथिवी से इतना ही भेद है कि जलीय शरीर अयोनिज है और जलीय शरीर वरुण लोक में प्रसिद्ध है और जल से उत्पन्न इन्द्रिय रसना है जिह्वा के अग्र भाग में रहता है जिस से मधुरादि रस का ज्ञान होता है सिन्धु (समुद्र) और हिम (बर्फ) आदि सर्व विषय रूप जल है ॥ ४० ॥

स्पर्श उष्णस्तेजसस्तु[1] स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम् ।
नैमित्तिकं द्रवत्वंतु नित्यतादि च पूर्ववत् ॥ ४१ ॥
इन्द्रियं[2] नयनं वह्निः[3] स्वर्णादिर्विषयो मतः ।

टी०—अब तेज को निरूपण करते हैं स्पर्शेति उष्ण स्पर्श तेज का है और तेज का रूप श्वेत और प्रकाशक है (शं०) अग्नि

---

१ उष्ण स्पर्श वत्वं उष्ण स्पर्श समानाधिकरण द्रव्यत्व व्याप्य जाति मत्त्वंवा तेजो लक्षणम् ।

२ सुवर्णस्य तैजसत्वे प्रमाणोऽपिप्रमाण "आग्नेयस्यप्रथमंहिरण्यम्"

३ तैजसत्वे सति रूप स्य व्यञ्जकेन्द्रियत्वं तैज सेन्द्रियत्वम् ।

या.हरित रत्नों में तो शुक्लरूप प्रतीत नहीं होता (उ०) उन में पार्थिव भाग के रूप से अभिभव है इस लिये प्रतीति नहीं होती और निमित्त अग्नि संयोग से उत्पन्न होने वाला द्रवत्व तेज में है नित्यानित्य व्यवहार तेज का जल की न्याईं जानना चाहिये ॥४१॥ तेज के विषय को कहते हैं तेज का इन्द्रिय नेत्र है और अग्नि स्वर्ण सूर्य चन्द्र विद्युत् प्रभृति सर्व विषय रूप तेज है (प्रं० उष्णस्पर्श तेज का कथन किया है तो चन्द्र में प्रत्युत शीत उपलब्ध होता है चन्द्रते ज कैसे(उ०) ४)चन्द्र किरण गत जलके शीत स्पर्श से अभिभूत है अतः वह शीत स्पर्श तद्गत जलका ही भान होता है। (प्र०)सुवर्ण भारा है और पीतहै इसको तेज क्यों माना जाय यह तो दोनों धर्म पृथ्वी के माने हैं (उ०) जब सुवर्ण को बिना किसी औषधी डालने के गालते हैं तो चाहे कितना ही तीव्र अग्नि संयोग करो परन्तु इसका द्रवत्व नष्ट नहीं होता और पृथिवीका द्रवत्व तो प्रतिबन्धकके बिना अग्नि संयोग अधिक होने से नष्ट हो जाता है ऐसी ही दशा जल के द्रवत्व की है तो इस से ज्ञात हुआ कि ऐसे न नाश होने वाले द्रवत्वाधिकरण वायु आदि के बाध होने से तेज ही सिद्ध हुआ तैजस शरीर सूर्य लोक में प्रसिद्ध है परन्तु इतना अवश्य जानना कि यावत् पर्यन्त

(४) चन्द्रस्यतैजसत्वप्रतिपादनन्तु केवलंप्रौढिवादेन न केवल मत्र भवत्पाश्चात्यविज्ञानविरोधोपितुवेदविरोधोपि तथाहि "आदित्येनचन्द्रमाभाति" अथाप्यस्यैकोरश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते सुषम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वं इत्यपि निगमो भवति। इति निरुक्तम्। दुर्गाचार्य्योऽपि स्पष्टमेव व्याख्याने चन्द्रस्य स्वकीय प्रकाशं निरस्तवान् व्यवस्थापितवांश्चेन्दो सूर्यप्रकाशमितिमेसुधीमत्प्रकाण्डा एव विदाङ्कुर्वन्तु, इति ॥

तैजस वायवीय और जलीय शरीरों में पार्थिव भाग का उपष्टम्भ (सहारा) न हो तावत् उपभोग सामर्थ्य नहीं हो सकता अतः सर्वत्र पृथिवी का उपष्टम्भ मानना योग्य है ॥

अपाकजोऽनुष्णशीतस्पर्शस्तु पवने मतः[१] ॥ ४२ ॥
तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादि लिङ्गकः ।
पूर्ववन्नित्यतायुक्तं देहव्यापि त्वगिन्द्रियम्[२] ॥ ४३ ॥
प्राणादिस्तु महावायु पर्य्यन्तो विषयो मतः ।

टी०—वायु स्वरूप कहते हैं अपाकजेति अग्नि संयोगसे न होने वाला जो मध्यम स्पर्श अर्थात् न शीत न उष्ण वह वायु में रहता है॥४२॥ और यह वायु तिरछी गति वाला है स्पर्श आदि पदसे धृति कम्पादियोंसे (३) अनुमित होता है परन्तु यह वैशेषिक सिद्धान्त है प्राचीन है न्याय सिद्धान्त में तो वायुका भी प्रत्यक्ष माना है वायु का भी नित्यतादि व्यवहार जलवत् जानना वायु शरीर पिशाचादियों का है केवल पाप संस्कृत वायवीय परमाणुओंसे पिशाचीय

---

१ रूप रहित त्वेसति स्पर्श रहितत्व वायुलक्षणम् ।

२ वायवीयत्वे सति स्पर्श ग्रह जनक मिन्द्रियं त्वगिन्द्रियम् ।

३ वायु सन्निप्रयोगस्तु योऽयं विलक्षण स्पर्शोनुभूयते सक्वचिदाश्रितः स्पर्शत्वात् पृथिव्यादि स्पर्शवत् इतिसामान्यतो दृष्टेन स्पर्शाश्रयत्वसिद्धौ सस्पर्शाश्रयोन पृथिव्यादिचतुरात्मकः नीरूपत्वात् नाकाशादि पञ्चात्मकः स्पर्शवत्वात् इति, इतरबाध सहकृतेन (अनुमानेन) अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यसिद्धिः तच्चवायु सन्निकमिति तथा च सूत्रं "स्पर्शश्चवायोः" तदर्थश्च "लिङ्गम्" इतिशेषः चकाराद्धृति शब्दकम्पाः समुच्चीयन्ते ॥

शरीर की उत्पत्ति है वायु में विशेष इतना है कि इस का इन्द्रिय सकल देह में रहता है अतएव सर्व देश से उष्णादि प्रतीति हो सक्ती है परन्तु कोशनखादि शरीर नहि हैं अतएव उनमें इन्द्रिय भी नहि है त्वग् चर्मको कहते हैं तथापि चर्म मे रहने वाले इन्द्रिय को भी त्वगिन्द्रिय से व्यवहार लक्षणाद्वारा जानना चाहिये "त्व विशिष्टं इन्द्रियंत्वगिन्द्रियम्" ऐसा अर्थ करना चाहिये अन्य था, चर्म को पार्थिव होने स उस स स्पर्श ग्राहकत्व कैसे होगा ॥ ४१ ॥ प्राणादि वायु स स्वकार महा वायु पर्यन्त वायु का विषय है यद्यपि प्राण एक है तथापि स्थान रूपो उपाधि के भेद से भिन्न २ संज्ञा को प्राप्त होता है जैसे प्राण, अपान, समान, व्यान, और उदान, भेद से पञ्च विध प्राण वायु के भेद होते हैं कई एक देव दत्त धनञ्जय आदि भेद से पञ्च और भेद मान कर प्राण (४) कोटश संख्या विशिष्ट कथन करते हैं ॥

---

४ "उद्गारनाग आख्यातः कूर्म उनमीलनेस्मृतः। कृकर, क्षुत्कारोज्ञेयोदेवदत्तो विजृम्भणे ॥ न जहातिमृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः" इति,अन्येपतः कार्य्यरूप पृथिव्यादि चतुष्टयस्योत्पत्तिविनाशक्रमः प्रदर्श्यते प्राणिनांभोगभूतये परमेश्वरस्य सिसृक्षाजायते ततोऽदृष्टवृत्तिकाऽदृष्टविशिष्टात्मसंयोगात्, दोधूयमानेषु प्रथमतः पवन परमाणुषु कर्मोत्पत्तिः, ततो द्वयोः पवनपरमाण्वोः संयोगः ततो द्व्यणुकोत्पत्तिरित्रभिर्व्द्यणुकैस्त्र्यणुकमित्येवमग्रे महावायु पर्यन्तोत्पत्तिर्मन्तव्या इत्येवमन्येषामपिभूतानां पुनः प्रलयेच्छायामपिक्रमशः परमाणु क्रियोत्पत्ति विभागादि परस्पर महावयविपर्यन्तोनाश इति (सं०)तस्मा द्वाएतस्मादात्मन आकाशःसम्भूत इत्यादि श्रुताकाशपरमाणु प्रभृतयोऽपिसोत्पत्तिकाः श्रूयन्ते चेन्नायन्तश्रो कायपरमाणूनांनित्यत्वं,(उ०) अतिरथ सम्भूत पदस्य

द्व्यणुकपूर्वकत्वान्नदोषस्तथा आकाशाद्वायुरित्यादौ वाय्वादौ स्पर्शाद्यभावप्रसङ्गः स्यात्कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्य्यगुणानां वेदान्तिभिः सृष्टिवाक्यानामतत्परत्वाभिधानाच्चान्यथा—तात्विकप्रपञ्चाङ्गीकारेऽपसिद्धान्तः स्यादिति (पं०) प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तत इतिन्यायात् किमितिस्वीयप्रयोजनवैधुर्य्यवतस्तस्यजगदुत्पित्सेति (उ०) ननु चोक्तं भोगभूतये (पं०) भोगस्य जीववृत्तित्वेन परमात्मप्रवृत्त्यप्रयोजकत्वात्पुनरपि प्रवृत्त्यभाव एव किञ्च प्रवृत्तिः सुखेच्छा दुःखाभावेच्छा वा न सम्भवति परेशे च तयोर्नित्य सिद्धतया प्रवृत्त्यभाव प्रसङ्गस्य तादवस्थ्यमेवेति चेन्न तस्य स्वार्थाभावेऽपि करुणया प्रवृत्तिसम्भवात् अज्ञानार्णवनिमग्नान् जीवान् ज्ञानधर्मोपदेशेनोद्धरिष्यामीति कारुण्यप्रयुक्त एव सृजति (पं०) करुणया प्रवर्तते चेत्सुखिन एव सृजेन्न दुःखिन इति (उ०) विचित्रकर्मसाचिव्यस्यैव वैलक्षण्यापादकतया न वैषम्यशङ्का, पक्षान्तरमप्याहुः यथा "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" इति बादरायणीयसूत्रप्रकाशितलीलामात्रमेव जगन्निर्माणे बीजत्वेनाभ्युपगम्य मन्तव्यमित्यनवद्यमखिलम् ।

न च परमात्मज्ञानेच्छाकृतीनां नित्यतया नित्यमेव जगदुत्पद्येतेति संशये किमिति जातुचित्सर्गादिः श्रूयते इति वाच्यं स्वभावतो नित्याया अपीच्छायाः तत्तत्कर्मोपाधि जनित वैरूप्यस्य सद्भावात् यथा वस्तुतः स्वच्छस्यापि स्फटिकस्य तत्तज्जपाकुसुमादिमालिन्यकृतवैचित्र्यमुपजायते (पं०) परमात्मा कर्मसापेक्षश्चेत् प्रवर्तते तत्स्वातन्त्र्यक्षतिर्निरपेक्षश्चेद्वैषम्यमित्युभयथापाशारज्जुरिति (उ०) सापेक्षत्वेऽपि स्वाङ्गं स्वस्य व्यवधायकं न भवतीति न्यायेन नकोऽपि दोषः पदमादधाति यथा कोशाध्यक्षाद्यधिकृत्य पारितोषिकम्प्रयच्छन्नपि स्वामी स्वतन्त्र एव न तत्कोशाध्यक्षस्वातन्त्र्यम् एवं प्रकृतेऽप्यवगन्तव्यमितरथा कर्मणाञ्जडत्वेन फलदातृत्वायोगात् भोगप्रयोजिकसृष्ट्यनुदयापत्तेरिति ।

" न च सांख्य मीमांसयोरीश्वर प्रतिषेधे जागर्ति कथमन्तर-
न्नाम तदनुयायिनः " मन्त्रोपधर्ममात्रेणासिद्धरीतु तयोरप्यास्तिक
मुख्यप्रणेतृकत्वेनोपोद्यतमत्वा दितिवाच्यं, नहि निन्दाहि निन्द्य-
न्निन्दितुं प्रवर्तत्यपितुविधेयं स्तौतीतिन्यायेन " यत्परः शब्दः
स शब्दार्थः " तात्पर्यार्थे शब्दस्य प्रामाण्यात्कपिलदेवस्यतु
प्रकृति पुरुष विवेक पुरस्सरमपवर्गनिष्पत्तावेव केवल तात्प-
र्यमितीश्वरप्रतिषेधांश तदप्रमाण्यमपिनदोषावह तत्रतत्तात्पर्य
विरहान्नोचेत् कथङ्कारमित्यन्यप्रामाणोश्वरावतारात्मा समस्त
वेदतत्व विदीयसत्त्वसिद्धिता विरच्यत यद्वासांख्यवादेनेश्वरप्रतिषेधो-
निश्चेतव्य, कथमन्यथा "ईश्वरासिद्धः, सां, द० अ० १। इह सत्र
द्विधाने ईश्वराभावोऽस्तिति स्पष्टमेवनाख्यास्यत, यद्वावैराग्योत्कटस्य
स्पादने एवतात्पर्यमध्यवसेय यदिनामेश्वरोऽपि कश्चिन्नास्ति-
तर्हि कस्यरागो विधेय इति॥ अनयवदिशा मीमांसायामपि अन्तः
करण शुद्ध साधारण कारणत्वात्कर्मणां कर्म निरूपण एव तात्प-
र्यमीश्वरसिद्धयसिद्धयोस्तु सर्वथौदासीन्य मेवेत्यलमकाण्डता एडवे-
नाधिक जिज्ञासुभिस्तु ब्राह्मण सर्वस्वहितायभाग मतज्ञान्मुक्तिनि-
रूपणप्रस्ताव मानपङ्क्तिकर्मसहितविषय द्रष्टव्य मित्युपरम्यत
इति दिक् ॥

[1]आकाशस्यतुविज्ञेयः शब्दोवैशेषिकोगुणः।४४।

टी०—आकाश का कहत ह आकाश का शब्द ही विशेषगुण
है अर्थात् आकाश में शब्दातिरिक्त और कोई विशेष गुण नहीं

[1] समवायेन शब्द गुणवत्त्व माकाशस्यलक्षणम। तेनकालिक
सम्बन्धेन कालेऽवच्छेदकता सम्बन्धेन श्रोत्रादौच शब्दसत्त्वेऽपिनाति
व्याप्तिः।

है शब्दाश्रय होने से ही आकाश की सिद्धि(२) है वह आकाश एक है और विभु है विभु होने से आत्मवत् नित्य है यद्यपि घटाकाश मठाकाश आदि व्यवहार से आकाशगत् नानात्व की प्रतीति होती है तथापि उसको उपाधि जात होनेसे वास्तविक आकाशैक्य में दोष नहीं है ॥ ४४ ॥

इन्द्रियन्तु[३] भवेच्छ्रोत्रमेकःसन्नुपाधितः ।
जन्यानांजनकः काल[४]:जगतामाश्रयोमतः॥४५॥

टी०—आकाश के शरीर और विषय के अभाव से इन्द्रिय को निरूपण करते हैं इन्द्रियमिति, श्रोत्र इन्द्रिय आकाश का है यद्यपि लाघव से आकाश एक ही है तथापि उपाधि कर्णशष्कुल्यादि के भेदसे भिन्न २ श्रोत्र स्वरूप होता है। अब काल को कहते हैं जन्यानामिति कार्य्य मात्र का साधारण कारण काल है क्योंकि कार्य्य मात्र ही स्व २ उत्पत्ति में काल की अपेक्षा रखता है अन्यथा सर्वदा सर्व वस्तु की उत्पत्ति होनी चाहिये और वह काल सर्व पदार्थों का आधार है अर्थात् सर्व ही वस्तु किसी न किसी समय में ही उत्पन्न होती है ॥ ४५ ॥

---

२ आकाश सिद्धयनुमानञ्च—शब्दः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः, अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति समवायिकारणवत्त्वाद् यन्नैवं तन्नैव यथा रूपमिति न चात्मैवास्तु तदाश्रय इति वाच्यं तस्यतदाश्रयत्वे बाधिर्य्याद्यभावापत्तेः सुखवानित्यादि वच्छब्दवानहमिति प्रतीत्यापत्तेश्च ॥

३ भोग प्रयोजक धर्म वैधुर्य्य प्रयुक्त बाधिर्य्य मेवमन्येन्द्रियगर्तेऽपि तत्तत्कार्याक्षमत्वं बोध्यम् ।

४ अतीतादि व्यवहार साधारण कारणत्वं कालस्य ॥

परापरत्वधी हेतुः-क्षणादिःस्यादुपाधितः ।

टी॰—परत्व और अपरत्व बुद्धि का हेतु भी कालही है यह परत्व और अपरत्व यह इस से बड़ा है और यह इस से छोटा है इत्याकारक जानने चाहियें (शङ्का) काल भी लाघव से जब एक मानते हो तो यह (१) वर्तमान (२) भूत (३) भविष्यत् प्रभृतिव्यवहार कैसा होगा (उ॰) उपाधि भेदसेही यह भी सकल व्यवहार सिद्ध होता है और उपाधि यहां पर सूर्य्य क्रियादि रूप जानना चाहिये इसी आशय से कथन करते हैं कि क्षण दिन मास वर्षादि सर्व व्यवहार और वर्तमानादि व्यवहार उपाधि से होता है।

दूरान्तिकादिधीहेतु-रेकानित्यादिगुच्यते ॥४६॥
उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदेशभाक् ।

---

(१) वर्तमानत्व इह शब्दप्रयोगाधिकरणकालवृत्तित्वम् (२) वर्तमानध्वंसप्रतियोगित्वं भूतत्वम् (३) वर्तमान प्रागभावप्रतियोगित्वं भविष्यत्वम् । ज्येष्ठेपरत्वप्रत्ययः कनिष्ठेऽपरत्वप्रत्ययः । स्व॰ परत्वापरत्वगुणविशेषाधीनः। परत्वापरत्वे च असमवायिकारण के भावकार्यत्वात् । असमवायिकारणञ्चतयोः काल पिण्ड संयोगएव तदाश्रयःकाल इति ।

॥ विभुत्वेसतिदैशिक—परत्वापरत्वासमवायिकारण संयोगाश्रयत्वायुपाधिरूप दिक्त्वम् । दैशिकपरत्वा परत्वेचसासमवायिकारण के भावकार्यत्वात् घटवत् ।

असमवायिकारणञ्च दिक्पिण्डसंयोगः तदाश्रयोदिक् ।

*तथाहि"ऊर्ध्वैकमवधिंतस्मादिदंपूर्वं चपश्चिमम् । इतिनिर्दिश्यतेययासादिगितिस्मृता"इति । शाब्दिकास्तुशब्दतन्मात्रपरिणाम एवदिक्, इत्याहुः ।

टी०—अब दिशाको निरूपण करते हैं दूरान्ति केति पदार्थों में दूर तथा समीप व्यवहार प्रयोजक एक तथा नित्य दिशा पदार्थ कहाता है यहांपर दूरत्व और समीपत्व दिशाकृत जानने योग्य हैं ऐसे ज्ञान का असाधारण कारण जो दिशा पदार्थ है।४६। यही दिशा एक होकर भी उपाधि से ही प्राची - प्रतीची उदीची अवाची आदि संज्ञा से व्यवहृत होती है जैसे जिस स्थान से जो स्थान उदयाचल की ओर हो वह उस स्थान से प्राची और इस से उलटा प्रतीची और जो स्थान जहां से सुमेरु अर्थात् केन्द्र की ओर हो वह स्थान उस से उत्तर (उदीची) कहाता है और इस से उलटा दक्षिण (अवाची) कहाता है॥

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता,करणं हि सकर्तृकम्।४७।
शरीरस्य न चैतन्य मृतेषु व्यभिचारतः।
तथा त्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः।४८।
मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत्।

टीका—अब अपवर्ग भागी, और सर्व जड़ मण्डल जिस की साक्षात् वा परम्परा सम्बन्ध से सुख दुःख वा दुःखाभाव (मुक्ति) के वास्ते है तादृश आत्म पदार्थको निरूपण करते हैं आत्मेन्द्रि-येति आत्मा इन्द्रिय आदि पद से शरीर का स्वामी है अर्थात् जैसे स्वामीके वियोगसे प्रकृति किसी कार्य्य में समर्थ नहीं होसकती इस तरह आत्म सम्बन्ध के अभाव होनेसे शरीरादि कुछ भी नहीं कर सकते पीछे यह सर्व ही मृत्तिका के तुल्य हो जाते हैं परन्तु मृत्तिका में सुखदुःख आदि मानना कल्पित अनुचित है क्योंकि मृत्तिका में ज्ञान इच्छा आदि नहीं बन सकते क्योंकि वह जड़ है जो (२)

(२) चार्वाकः (नास्तिकः) अभ्युत्पत्तिः चारुः लोक संमतो वाकः वचन यस्य सः।

चार्वाक शरीरादि में ही आत्म बुद्धि रखते हैं अतएव शरीरादि से भिन्न और आत्म पदार्थ नहीं मानते उनको बोधन करते हैं कि करण सकर्तृक अर्थात् कोई भी करण वा साधन विना चेतनकी सहायताके किसी भी कार्य्य को नहीं कर सकता जैसे कुठार और काष्ट चाहे कितना समय इकट्ठे पड़े रहें तो एक तृण भी नहीं काटा जाता जब कोई चेतन तक्षक आदि कुठार को हाथमें लेकर काष्ठपर चलाता है उसी समय छेदन क्रिया उत्पन्न होती है ऐसे ही चक्षु आदि भी करण अधिष्ठाता चेतन के बिना कुछ नही कर सकते अतएव भिन्न चेतन अवश्य स्वीकर्त्तव्य है, अथवा-यद्यपि अहं सुखी मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं इत्यादि प्रत्यय से सुखादि का अहं के साथ सामाना धिकरण्य अवगाहित होता है तो विशेष गुण सुखादि पुरस्कार से आत्मा का प्रत्यक्ष हो होता है तथापि अहं इत्यादि प्रतीति में स्वात्म मात्र का ही ग्रहण होता है स्वसमानाधिकरण व्यक्त्यन्तर में पर बुद्धि सुखादि ग्रह पूर्वक प्रत्यक्ष नहीं बन सकता इसलिये वाक्य है "करणं हि सकर्तृक" अर्थात् इस से आत्मा में अनुमान प्रमाण दिखलाया है। चार्वाक पृथिवी, जल, तेज, वायु, रूप भूत चतुष्टय मिलाप से हि एक चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती जैसे किण्व को चाल और गुड आदि के मिलने ही से एक मादक शक्ति उत्पन्न होती है अतः तादृश शक्ति विशिष्ट शरीर ही आत्मा है और मैं गौर हूं कृष्ण हूं स्थूल हूं कृश हूं इत्यादि प्रतीतिसे भी शरीरही आत्मा सिद्ध होता है। ऐसा कथन करते हैं इस शङ्का की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि शरीरस्येति, शरीर चेतन नहीं होसकता क्योंकि मृत शरीरों में चैतन्य नहीं मिलता और शरीर का गुण होता तो मृत शरीर में भी ज्ञान दृष्ट होता क्योंकि शरीर का विशेष गुण यावद्

द्रव्य भावी होता है अर्थात् जब तक द्रव्य सत्ता हो तब तक उस की सत्ता होती है जैसे गन्ध जब तक शरीर रहेगा तब तक इसकी सत्ता होगी और यदि शरीर में ही ज्ञान मानें तो पापादि भी इसी में होंगे तो इस शरीर को यहां ही दग्ध होजाने से जन्मान्तर में निर्निमित्त सुखादि की उत्पत्ति होने से कृत नाश और अकृत प्राप्ति रूप दोष भी लगेगा और जन्मोंका बन्ध तो अवश्य मानना चाहिये अन्यथा सुखादि में वैचित्र्य नहीं बनसकता और मद शक्ति विशेष गुण नहीं है और कारण परमाणुओंमें ज्ञानके अभाव होनेसे से तत्कार्य शरीर में ज्ञान कहां से होगा यदि उन में भी ज्ञान माने तो तदारब्ध घटादि में भी ज्ञान होना चाहिये और मेरा शरीर है इस प्रतीति से भी शरीर भिन्न आत्मा सिद्ध होता है अतएव मैं स्थूल हूं इस में अहं अंश का स्थूलत्व के साथ सामानाधिकरण्य भ्रम सिद्ध है। (शं०)यदि मेरा शरीर है इस प्रतीतिसे शरीरातिरिक्त आत्मा सिद्ध करतेहो तो यह मेरा आत्मा है इस प्रत्यय से भी आत्मान्तर तुल्य न्याय से क्यों न सिद्ध हो (उ०) अभेद में भी भेद व्यवहार औपचारिक बनता है जैसे राहु का शिर जब शिरोमात्र ही तो राहु है तो राहुका शिर जैसे (शं०) इसी न्यायकी मेरा शरीर है इस प्रतीति में क्यों नहीं ग्रहण करते (उ०) युक्तियोंसे जब शरीर में चैतन्य का अभाव सिद्ध कर दिया तो अस्मदीय युक्ति अनुग्राह्य मात्र होने से ही चरितार्थ है। अब **इन्द्रियात्मवादी** शंका करता है कि चक्षु के होने से ही चाक्षुष ज्ञान होता है एवं समस्त इंद्रियोंसे ही समस्त ज्ञानके होनेसे जिसके होने जिसका होना होना हो वह उस का होता है अतः ज्ञान, इन्द्रियों का ही गुण है। इस का खण्डन करते हैं। तथाप्यन्वेति,इन्द्रियभी आत्मा नहीं होसकते क्योंकि यहबात युक्तिसिद्ध है कि अनुभूत पदार्थोंकाही स्मरण होता है अर्थात् जिस मनुष्य ने जो बात देखी हो उसी मनुष्य को उस

वस्तु का स्मरण होगा परन्तु जब इन्द्रियों को चेतन माना तो ज्ञानादि सभी इन्द्रियों में रहे, फिर रूप का प्रत्यक्ष चक्षु में हुआ तो रूप का स्मरण भी चक्षु में ही होगा क्योंकि जहां अनुभव है उस का कार्य्य स्मरण भी वहां होगा व्यधिकरणों में कार्य्य कारण भाव नहीं होता परन्तु जिस पुरुषने भिन्न २ वर्णों के अनेक वस्त्र बना रक्खे हों फिर दैवात् वह अन्धा होगया, तो उस समय में उस के चक्षु यदि हैं तो उसे सर्व पदार्थ दीखने चाहिये यदि नहीं तो रूपों का स्मरण नहीं होना चाहिये इसी अभिप्राय से कहा कि "तदात्वे" यदि इन्द्रिय ही चेतन हो तो इन्द्रियों के नाश से स्मरण कैसे होगा अर्थात् अनुभवितृ चक्षु नहीं है और इन्द्रियोंके होने से ज्ञान का होना तो इन्द्रियों को करण मात्र होने से होसकता है क्योंकि करणके विना कोई भी क्रिया सिद्ध नहीं होती यदि इन्द्रिय चेतन होता तो "चक्षुर्जानाति"ही प्रयोग होता"चक्षुषा जानाति" न होता अतः अहं काण., इत्यादि प्रतीति भी औपचारिक ही जाननी चाहिये ॥ ४८॥ अब मन आत्म वाद का खण्डन करते हैं। मन आत्म वादी की ऐसी शङ्का है कि इन्द्रिय आत्मा मानने से स्मृति की अनुपपत्तिरूप प्रधान दोष दिया है क्योंकि इन्द्रिय अनित्य हैं जब विज्ञातृ ही नहीं तो स्मरण किस को हो वा कैसे हो परन्तु मन तो तुम भी नित्य मानते हो फिर उसी को चेतन क्यों न मानें इस में स्मरण की अनुपपत्ति भी दूर होगई "इस को खण्डनकरते हैं" "मनोऽपीति"अर्थ मनभी चेतन नहींहै यदि मनकोचेतन मानोगे तो ज्ञान सुखदुःख आदि का प्रत्यक्ष नहीं होगा और होता तो है (प्र०) इन के प्रत्यक्ष में क्या बाधक है (उ०) एक क्षण में दो ज्ञान नहीं होते इसलिये मन परमाणु रूप है चेतन मानने पर सुखादिक भी इसी में मानने होंगे तो जैसे परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं तो तद्गत रूपादिका भी नहीं है,इसी न्याय से परमाणु रूप मन के

प्रत्यक्ष न होने से उस में रहने वाले सुखादि का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा क्योंकि प्रत्यक्षमें महत्वकी कारणता होती है किञ्च सकल क्रिया को करण साध्य होने से सुख ज्ञान रूप भी क्रिया को करण की अपेक्षा है तो बाह्य करण की शक्ति उस में न देखकर आन्तर करण का अनुमान होकर मन की सिद्धि होती है तो यदि मन ही चेतन (कर्ता) हुआ तो उसको भी करण दूसरे की अपेक्षा होगी तौ फिर भी गौरव पड़ा और नाममात्रमेंही विवाद रहा वस्तुमें नहीं ॥

अब प्रकरण से संक्षेप से योगाचारादि बौद्धों के मत को भी खण्डन करते हैं,ये योगाचार संज्ञिकबौद्ध विज्ञानकोही आत्मा मानते हैं,और उसको क्षणिक भी मानते हैं क्योंकि भाव मात्र उनके मत में क्षणिक (द्वितीयक्षणध्वंस प्रतियोगि) है उस विज्ञान के भी दो भेद हैं एक प्रवृत्ति विज्ञान दूसरा आलय विज्ञान घट पटादि विषयक प्रवृत्ति और अहं २ इस तरह के स्वरूप वाले को आलय कहते हैं यह सुषुप्ति दशा में होताहै और घट पट सभीही ज्ञानके ही भेदहैं। इसकी खण्डन प्रक्रिया यहहै। कि स्मरण की अनुपपत्ति रूप दोष से यह भी निर्मूल नहीं है क्योंकि विज्ञान विज्ञान के नष्ट होने में स्मरण दूसरे को कैसे होगा यदि पूर्व ज्ञान के संस्कार को भी उत्तर ज्ञानमें संक्रान्त मानें तो माताके अनुभूत पदार्थका भी गर्भस्थ बालकको स्मरण होना चाहिये और संस्कार भी तो तुम्हारे मत में स्थिर नहि है और जिस मैंने कल देखा था वही आज मैं उसी वस्तु का स्मरण करता हूं इस अबाधित प्रतीति से भी स्थिर नित्य आत्मा सिद्ध होता है किञ्च पूर्व दिनमें एक वस्तु को देखा था आज उसीके लेने की इच्छा हुई है यदि स्थिर आत्मा न होता तो समान विषयिणी इच्छा कैसे होती ॥ "अब जो नास्तिक बौद्ध विशेष कहते हैं"कि ज्ञानाकारसे अनुमित होने वाला क्षणिक बाह्य पदार्थही आत्मा है सो यह भी पक्ष ठीक नहि है क्योंकि प्रत्यक्ष

प्रमाण सिद्ध घटादिकों का अनुमेय कथन मानों अयुक्त है ॥ 'वैभाषिक बौद्ध क्षणिक बाह्य-पदार्थ को आत्मा कहते हैं" सो यह भी ठीक नहिं है क्योंकि "सोऽयघटः" यही यह घट है चणिक प्रक्रिया में प्रत्यभिज्ञा नहि हो सकती आरभी अष्टादश भेद हैं ग्रन्थ बढ़ने के भय से नहिं लिखे ॥

सांख्य मत में आत्मा को ज्ञान स्वरूप और शुद्ध माना है बुद्धि में ही सर्व दुःखादि मानें हैं प्रयत्न इच्छा भी बुद्धि में मानते हैं बुद्धि का सुखाकार दुःखाकारादि होकर पुरुष में प्रतिबिम्बित होना ही पुरुषों का बन्ध तन्निवृत्ति हो पुरुषों की मुक्ति है सो यह भी मत ठीक नहिं है क्योंकि बुद्धि को प्रकृति कार्य होने से जड़त्व है और ज्ञान इच्छा कृति इनका परस्पर सामानाधिकरण्य से ही कार्य्य कारण भाव है अर्थात जो जानता है वही चाहता है और वही फिर कर्ता है जब पुरुष ज्ञान स्वरूप है तो इच्छादि भी उस में मानने चाहिये ॥

अब वेदान्त को दिखाताहै वेदान्त में एक अद्वय ब्रह्म ही सत्य वस्तु मानी है तद्भिन्न रज्जु में सर्पवत् सर्व ही वस्तु ब्रह्म में कल्पित मानी है और वह ब्रह्म भी ज्ञान स्वरूप है इस सिद्धान्त को दृढ़ता से श्रुति भी प्रमाण रूप से दिखाते हैं सो जैसे "सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म" "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि और भी कथन करते हैं ॥

खण्डन जबतक बाध सिद्धि न हो तब तक सत्त्वेन प्रतीत जगत् को कल्पित कहना न्याय युक्त नहि है और जब सुख दुःखादि की विलक्षणता से जीवों का ही परस्पर भेद सिद्ध हो रहा है तो पर मात्मा के साथ अभेद कैसे जाना जाय और कल्पना में अविद्या को कारण होने से अविद्या शुद्ध में या कभी भी सध्यन्दिन वर्ती

सूर्य में तमकी सम्भावना नहि बन सकती यदि जीव ने कल्पना की तो जीव भी तो कल्पित है उसको भी किसन की इत्येव अन वस्था होगी (प्र०) प्रत्यक्ष सिद्ध भेद आत्माभेद ग्राहक श्रुतिवाक्य से,बाधित है क्योंकि यह प्रत्यक्ष प्रमाण श्रुति की अपेक्षा स दुर्बल है जिससे यह भ्रम प्रमाणमय का कारण है जस अन्द्र प्राटधिक ज्ञान ज्योति' शास्त्र से बाधित होता है। (उ०) श्रुतिके अर्थ विचार से भी अभेद नहि सिद्ध होता नाही ज्ञान रूपताही सिद्ध होती है तथाहि—"य. सवज्ञ.. स सर्ववित्' इस श्रुति में (सर्वंजानाति) इस व्युत्पत्ति स ज्ञा धातु को आगे कर्ता में 'क' प्रत्यय स आकार बना है, तो सर्व शब्द के उत्तर द्वितीया का अर्थ कसता अर्थात् विषयता और सव शब्द का अर्थ सार पदार्थ, 'ज्ञा' धातुका अर्थ ज्ञान और क प्रत्यय का अर्थ कर्ता और आश्रयता सम्बन्ध तो सबन्ध को आ काक्षा से ही प्रतीत हो जाता है तो शाब्द बाध यह होता है समस्त पदार्थो क ज्ञान का आधार इस शाब्द बोध म प्रत्ययके अर्थ कर्ता को छोड़ना युक्ति से सर्वथा विरुद्ध है अत. इस श्रुति की प्राय विरोध दूर करने के लिये 'ज्ञान' पद का अर्थ भी ज्ञानवत् करना उचित है और "तत्वमसि" श्रुति के पूर्व भी आत्मा तत्वमसि ऐसा पाठ है अत यहा पर भी अकार का प्रश्लेष अर्थात् अतत्वमसि करना चाहिय अथवा प्राणो को प्रशसा रूप अर्थ वाद जानना चाहिये अथवा अभेद भावना से उपासना करनी चाहिये अत श्रुति का अप्रामाण्य भी नहि है और "अह ब्रह्मास्मि" इसका तात्पर्य्य भी उच्चकोटि की उपासक अवस्था में ही जानना योग्य है क्यों कि पुण्य प्रभु में शरणा गति तीन प्रकारकी है।

१ में प्रभु का हू, २ प्रभु मेरा है, ३ मैं प्रभु हू इन में तृतीय भेद उत्तम अधिकारी के वास्ते है जो सर्वथा स्वरूपमें मग्न होकर परम आनन्द म सर्व बाह्य पदार्थोको भूल गया है ऐसे हि ब्रह्म

स्वरूप में मग्न होकर मैं ब्रह्म हूं ऐसे कथन कर्ता है "एकमेवा-द्वितीयं ब्रह्म" इस श्रुति का भी सजातीय द्वितीय के निषेध में ही तात्पर्य है अतः "द्वासुपर्णासयुजा सखाया" इत्यादि श्रुति से और "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" इस स्मृति से सर्वथा भेद ही जब बोधित है तो फिर अभेद कैसे जाने । इति संक्षेप. ।

इस पूर्व प्रकार से जब आत्मा देहादि से भिन्न सिद्ध हुआ "तो नानात्मानो व्यवस्थात:" इस वैशेषिक सूत्र से अनेक और "विभवान्नाकाशस्तथाचात्मा" इस वै० द० सू० से विभु "इच्छा-द्वेषप्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिंगम्" इस न्या० द० सूत्र से इच्छादि विशिष्ट सिद्ध होने पर वह पदार्थों के साधर्म्य वैधर्म्य ज्ञान पूर्वक तत्व ज्ञान भक्त्यादि द्वारा परमात्म साक्षात् कार से * मुक्ति (आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति) को प्राप्त होता है "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" इस जन्मात्मक दुःख से अत्यन्त छूटना हि मोक्ष गौतम जी ने कहा है इसी की पुष्टि में कपिल जी भी सांख्य में लिखते है "अथ त्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्य-न्तपुरुषार्थः" आध्यात्मिकादि तीन दुःखों की अत्यन्त्य निवृत्ति ही मुक्ति पदार्थ है ऐसे मोक्षपद को प्राप्त होकर फिर आत्मा की संसार में प्राप्ति नहि होती यह वार्ता श्रुति भगवती भी न च पुनरावर्तते २ वीप्सा द्वारा दृढ़ कराती है इस मुक्ति के लाभ में गौतम जी ने सूत्र में क्रम भी बोधन किया है"

तथाहि"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामासुत्तरोत्तरापाये-तदनन्तरापायादपवर्गः" अर्थ–जब पूर्व सूत्र से अनुवृत्त तत्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान (कर्म के बिना हि शरीर जन्म जन्म निवृत्तिभी अनिमित्त मुक्ति दुःख रूप है अथवा अनित्य में नित्य बुद्धि अशुचि मे शुचिज्ञान आदि) की निवृत्ति हुई तब तदधीन रागद्वेष मोह स्वरूप दोषों की निवृत्ति होती है उसकी निवृत्तिसे जन्म जोकि सर्व

वैखरी, इतिवाणीचतुष्टये प्रथमायाः पराख्यायाब्रह्मरूपाया वा-
ग्याद्दर्शनम्, इतिपाणिनीयाः। पुरुषस्य निर्लेपस्य कैवल्येनाव-
स्थानं मुक्तिः इतिपातञ्जलाः। इतिसंक्षेपोऽधिक जिज्ञासुभिस्तु
सर्वदर्शनस्वरूप निर्णयादौद्रष्टव्यम् ॥ प्रकाशयिष्यतेचमयानिखिल-
मतगर्भितोभाषाटीकोपेतस्स्वरूपनिर्णयइतिसम्भाव्यते ॥

अथापिनव्यतरवैज्ञानिकमुक्तिविचारोऽपिदर्श्यतेम
नाक्।यद्यपितस्यानिवेशेनैवगौरवलाभःस्यात्तथापिदृष्टिपथमानी
यैव तंविद्वांसोऽहास्यभाजोभविष्यन्तीतिमद्विनोदएवास्य विन्यासेफल
मनु सन्धातव्यं समीक्ष्यताञ्चतद्युक्तिपाटवंकोविदप्रवरैः कोऽपिवि-
लक्षणपाण्डित्यवैभवःपण्डितनामा "घटं छिन्द्यात् पटंभिन्द्यादि
न्यायमवलम्ब्य निजममता प्रसिद्ध्यापिपिपुःस्वात्मीयगन्धविधुरसं
मदि "मुक्तोऽपिपरावर्तते," इत्यभिमतसिद्धान्तमाविरकरोत्। प्रादर्श
यच्चतत्रयुक्तिजालमस्तकापरनामधेयं तथाहि—मुक्तेरपिकर्मजन्य
तया यज्जन्यं तदनित्यमितिव्याप्तेः, कियत्कालं मुक्तिसुखमनुभूय-
कर्मसमाप्तौ पुनरपिपरावर्तते, इतियुक्तियुक्तं किञ्चयदि सम्यते
पुनरावृत्तिर्नहि सम्भवति तदा परमात्मनःसन्निधौ महतीजनता
सम्पत्स्येतेति तत्रावकाशाभावःस्यात्।

अन्यच्च—कल्पानामानन्त्येन यद्येकैकोऽपिप्रतिकल्पमपवर्ग
भाक् स्यात्तदापिक्रमशः संसारोच्छेदापत्तिःस्यादिति।

अपिच—निरन्तरसुखसन्ततिस्नातोवाञ्छति ततः खिन्नःप्रा
सारिकसुखसन्दोहं यथामिष्टभोजनतृप्तः सलवणभक्ष्यमभिलषती
तिमतम् तद्दर्शितप्रमाणञ्च—ऋग्वेदे "कस्यनूनं कतमस्यामृ
तानामनामहे चारुदेवस्यनाम कोनोमह्या अदितेःपुनर्दातिमातर
ञ्च—दृशेयंपितरञ्चेति।

तत्कृतार्थञ्च यन्मुक्तः प्रार्थ्यते कस्यनामसर्वेभ्योऽधिक कस्य वा, उपासनयाहं पूर्वतनमातापितरौपश्येयमितिभावः। इतिपूर्वपक्ष संक्षेपः। १

अथापिप्रत्युच्यतेऽत्रक्रमशः।

१ मुक्तिकर्मफलमितिप्रथमोऽसत्तर्कः। सोऽयंराद्धान्तः श्रुतितात्पर्यानभिज्ञतयोद्भावितःकेवलन्नरकप्राप्तिहेतुर्नह्यत्रश्रुतयः प्रमाणतयादृश्यन्ते प्रत्युततद्विपरीतार्थाभिधायिका एवतथाहि "तद्यथेहकर्मचितोलोकः क्षीयते, एवमेवामुत्रपुण्यचितोलोकः क्षीयते, इत्यादिश्रुतिर्यत्कृतकं तदनित्यमितिसत्तर्कानुगृहीतो दर्शनविषयतामानीयते। "नकर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः इत्यनयाच श्रुत्या सुस्पष्टमेवकर्मणामुक्तिकारणत्वन्निराकृतम्। नच "हिरण्यदा अमृतत्वमभजन्ते, कर्मणैवहिसंसिद्धिमास्थिताजनकादय इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च कर्मणांमोक्षसाधनत्वागमात्कथं ज्ञानादेवमोक्षोभवतीत्युक्तमितिवाच्यम्। तत्रामृतपदेनापेक्षिकामृतत्वस्याभिधानात्, इतरथाश्रुत्यन्तरविरोधोदुर्वारोभवेत् संसिद्धिपदेनचान्तःकरणशुद्धिरेवविवक्षिता॥

२ अवकाशाभावरूपो द्वितीयोऽसत्तर्कः। यथापिच साधिःपहोमौश्वर्यविलसितं परमात्मनो व्यापकत्वमभ्युपगच्छन्नपि तस्य देशपरिच्छेदःसम्भावितः कथञ्चनानयावाचोयुक्त्याघट्टकुटी प्रभातन्यायेनानीप्सितोऽपिसाकारवादोङ्गी कृतोभवेत्। "मूर्तयोः समानदेशताविरोधः" इत्यपिनियमोऽनुभवपथमनाधिरूढश्चेति।

३ संसारोच्छेदापत्त्यात्मकस्तृतीयोऽसत्तर्कः तत्पूर्वमनाक् पराक्रमं यद्यप्यनयायुक्त्या ज्ञानलवदुर्विदग्धजनास्तु प्रसादस्यपराकाष्ठामधिरोहयन्ति तथापि शेमुषीमत्प्रकाण्डवृन्देजागर्ति जागर्तिच प्रामाणिकजनवाक्यसन्दोहे कथङ्कारंमामाणिकसंसदि प्रति

(५) तद्दर्शितप्रमाणम् । तस्योत्तरम् ।

इदञ्च प्रमाणं प्रक्रान्ताभिमतमतानुकूलं नास्ति यत्तीयप्रकरण-स्यास्य निरुक्तयुक्त्युच्चय वक्ष्यमाणयुक्त्यादि विरोधाच्च तथाहि "तमेवविदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय" इत्यादि यजुर्वेदपुरुषसूक्ते 'नचपुनरावर्तते' इत्युपनिषत् । "अनावृत्तिशब्दाद नावृत्तिशब्दात्" इतिशारीरिकसूत्रम् "न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्य-नावृत्ति श्रुतेः" सा० द० अ० ६ । "कुशलस्याशतसंसारक्रमसमा प्तिर्निरतरस्य यो० भाष्य पा० ४ 'मामुपेत्यतुकौन्तेय पुनर्जन्मनवि द्यते" इतिगीता । इत्याद्यनेकप्रमाणसिद्धापुनरावृत्तिर्यद्बुद्धिभुवि नावकाशंलभते स संसारार्णवमग्नमात्मानन्नोद्धर्तुकामःस्वयन्न ष्टः परान्नाशयतीमान्नोक्तोक्तिमनुसरतीश्वरमनागपिविमर्शगन्धः यद्यपि वाद्युक्तप्रमाणान्तराण्यपिखण्डनमर्हन्ति तथापि ग्रन्थवृद्धि भिया प्रधानमल्लनिर्बर्हणन्यायेन कयापि खलुपापानामलं स्वेयस्वेयस इत्युक्तिचानुकृष्यैवोदास्यते, इत्यलं अतिमात्रेण ।

धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः ॥४९॥

टी०—सो इनपूर्वोक्तयुक्तियों से जब आत्मा की शरीरादि व्यतिरेक में सिद्धि हुई अब उसके धर्मों का निरूपण करते हैं— आत्मा धर्म तथा अधर्म का आश्रय है, एवं विशेष सुखादि गुणों के सम्बन्ध से उसका प्रत्यक्ष होता है ॥४९॥

प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः ।
अहंकारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः ॥५०॥

टी०—जैसे रथ की, गति को देख कर रथवाही का अनुमान होता है वैसेही, दूसरे शरीर में वर्तमान आत्मा चेष्टा से अनुमित

होता है। और वह आत्मा अहङ्कार अर्थात् अहं प्रत्ययका आश्रय है और केवल मन इन्द्रिय से गृहीत होता है ॥५०॥

विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान्।

टी०—यह आत्मा विभु अर्थात् सर्व मूर्त संयोगी है तथा बुद्धि आदि चतुर्दश गुणों वाला है।

[1]बुद्धिस्तु द्विविधा मता।[2]अनुभूतिः[3]स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ॥ ५१ ॥

टी०—प्रसङ्ग से कहे गए बुद्धि के भेद दिखाते हैं यह बुद्धि दो प्रकार की है। एक अनुभवरूपा और दूसरी स्मरणरूपा एवं अनुभवरूपा बुद्धि पुनः चार प्रकार की है ॥

[2]प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे।

---

१ बुद्धित्व सामान्यवती बुद्धिः साचात्म मात्र वृत्तिः (तत्वज्ञत: कारणत्वाधार.) बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् गौ० द०। १।१। १५) बुद्धेर्ज्ञानपर्यायत्वकथनेन, सांख्यमतनिरासः । तन्मते बुद्धेर न्तःकरणधर्मत्वम्। २ अनुभूतिरनुभव इत्यनर्थान्तरम्। स्मृति भिन्नं ज्ञानमनुभवः । ३ संस्कारमात्रजन्यज्ञानत्वं स्मृतित्वम्। मात्रपदानुपादाने प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिः तदर्थं तदुपात्तं तत्संस्कारेतरचक्षुरादिजन्यत्वात ॥

१ प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति, तत् प्रमाणम् २ इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।

तदुक्तम् "आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, इन्द्रियमितिक्रम एतदीयम्। योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति यस्मिन् मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा ॥ १ ॥

टी०—उक्त चार भेद भिन्न अनुभूति एक प्रत्यक्ष रूपा दूसरी अनुमिति रूपा तीसरी उपमितिरूपा और चौथी शब्दजन्या है इन्द्रिय से उत्पन्नज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं उसमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण है उसका विषय के साथ संयोगादि सवन्ध व्यापार है ऐसे ही अनुमिति ज्ञान में अनुमान प्रमाण है व्याप्ति स्मरण व्यापार है इसी तरह उपमिति में (अर्थात् संज्ञा संज्ञि सवन्ध ज्ञान में) उपमान प्रमाण है अतिदेश वाक्यार्थ स्मरण व्यापार है एवं शाब्दज्ञान में पदज्ञान करण है पदजन्य पदार्थोपस्थिति व्यापार है गौतम दर्शन में चारही प्रमाण माने हैं चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही मानते हैं अनुमान को भी काणादस्वीकार करते हैं शब्द भी सांख्य मानते हैं उपमान भी नैयायिक स्वीकार करते हैं अर्थापत्ति भी पञ्चम प्रमाण प्राभाकर मीमांसक मानते हैं अनुपलब्धि भी भट्ट और वेदान्ती स्वीकार करते हैं एवं सम्भव ज्योतिर्विद् ऐतिह्य पौराणिक और चेष्टा तान्त्रिक मानते हैं अन्तर्भाव दिखाने से ग्रन्थ बढने का भय है अतः अन्यत्र देखो।

घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधमतम् ॥ ५२॥

टी०—वह निरुक्त प्रत्यक्ष घ्राणज, रासन, चाक्षुष, स्पार्शन, श्रौत, और मानस भेद से छः भेद का है (शं०) ईश्वर का प्रत्यक्ष तो इन षड्विध प्रत्यक्षों में नहीं आसक्ता इस से न्यूनता होगी (उ०) यहा पर जन्य प्रत्यक्ष ही विवक्षित है क्योंकि सूत्रकार ने जन्य प्रत्यक्ष का ही लक्षण किया है ॥ ५२ ॥

घ्राणस्यगोचरोगन्धोगन्धत्वादिरपिस्मृतः ।
तथारसोरसज्ञास्तथाशब्दोऽपिचश्रुतेः ॥५३॥

टी०—गन्धगुण गन्धत्व जाति तथा गन्धाभाव यह तीनों घ्राण इन्द्रिय के गोचर अर्थात् ग्राह्य हैं। ऐसे ही रसगुण तथा रसत्वादि जाति रसाभाव इन सबका रसना इन्द्रिय से ग्रहण होता है परन्तु गन्ध और रस उद्भूत समझना अन्यथा परमाणु रस का भी ज्ञान होना चाहिये ॥५३॥

उद्भूतरूपं नयनस्यगोचरो द्रव्याणितद्वन्ति-पृथक्त्वसंख्ये । विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ॥ ५४ ॥

क्रियांजातिं योग्यवृत्तिं समवायंचतादृशम् । गृह्णाति चक्षुः*संबन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥५५॥

टी०—उद्भूत रूप और उद्भूत रूप वाले द्रव्य ऐसे हि पृथक्त्व तथा विभाग संयोग परत्व तथा अपरत्व। स्नेह तथा द्रवत्व तथा परिमाण प्रत्यक्ष योग्य द्रव्यगत क्रिया तथा जाति तथा समवाय इन सबों का ग्रहण नेत्र इन्द्रिय द्वारा होता है परन्तु नेत्र इनको प्रत्यक्ष के वास्ते प्रकाश सम्बन्ध तथा उद्भूत रूप की सहायता लेता है ॥ ५४॥ ५५॥

उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरःसोऽपित्वचः ।

---

* इदन्तु आलोकं विना द्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वं यत्समवायेन सम्बन्धपरिमाण भवेत् । गुणकर्मणोरप्येतयोरेवप्रत्यक्षता यत्वस्तु समवायि समवेतस्य संबन्धेन महत्त्वमपेक्षते इति मन्यः। एवमालोकादिना तस्य प्रत्यक्षत्व यथा स्वसमवायिसमवेतसमवेतत्वसम्बन्धेन महत्त्वं सम्भवेदनेनैवविधयाद्रव्यादि पदार्थाना प्रत्यक्षत्वे प्रकाश सम्बन्धोद्भूत रूपयोरपिहेतुत्वमवसेयम् ।

टी०—जिस द्रव्य में उद्भूत रूप और उद्भूत स्पर्श, हो वह द्रव्य त्वक् इन्द्रिय का गोचर अर्थात विषय है वैसे ही वह उद्भूत स्पर्श भी स्पर्शत्वादि सहित त्वगिन्द्रिय से गृहीत होता है ॥

रूपान्यच्चक्षुषोयोग्यं रूप मत्रापि ॥ ५६ ॥

टी०—रूप तथा रूपत्वादि से भिन्न जो वस्तु इन्द्रिय से गृहीत होते हैं वे त्वगिन्द्रिय के भी ग्रहण योग्य है इस से संख्यादी पूर्वोक्त चक्षुर्ग्राह्य सभी त्वगिन्द्रिय के भी विषय हैं यह सिद्ध हुआ और द्रव्य त्वा च प्रत्यक्ष मे रूप ही कारण हैं । जो वायु का प्रत्यक्ष नही मानते वे बहिरिंद्रिय प्रत्यक्ष में केवल उद्भूत रूप को कारण मानते है और नवीन तो वायु का भी प्रत्यक्ष मानते हे स्पार्शन प्रत्यक्ष मे स्पर्श को कारण मानते हैं अतः वायु रूप द्रव्य प्रत्यक्ष में उद्भूत स्पर्श कारण मानते ह ॥ ५६ ॥

द्रव्याध्यक्षेत्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम् ।
मनोग्राह्यं सुखंदुःख मिच्छाद्वेषो मति· कृति ॥ ५७ ॥

टी०—मन के साथ त्वगिन्द्रियका सम्बन्ध ज्ञान सामान्य में कारण है अर्थात् कई नैयायिक कहते हैं यावत ज्ञान हैं वे सभी मन के साथ त्वगिन्द्रिय के सम्बन्ध से होते हैं और इस में युक्ति यह हैं कि सुषुप्ति काल में त्वचा को त्याग करके पुरीतन्नाड़ी में मन के प्रवेश करने पर कोई भी ज्ञान नहीं होता सुख दुःख, इच्छा, द्वेष ज्ञान तथा यत्न ये छः गुण भी मन इन्द्रिय के विषय हैं । ५७ ॥

ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते ।

यदुक्तम् * अस्तिह्यालोचन ज्ञान प्रथम निर्विकल्पकं बालमूकादि विज्ञान सदृश मुग्ध वस्तुजम् ॥ प्रकारता शून्य ज्ञानत्वं विशेष्यता

टी०—ज्ञान जो निर्विकल्प संज्ञिक "अर्थात् विशेष्य विशेषण" के परस्पर सम्बन्धज्ञानवगाहिज्ञान है वह अतीन्द्रिय है अर्थात् उस का प्रत्यक्ष नहीं होता उदाहरण "यथेदंकिञ्चित्" जैसे यह कुछ है

महत्त्वं षड्विधेहेतुरिन्द्रियं करणंमतम् ॥ ५८ ॥

टी०—द्रव्य प्रत्यक्ष में महत्त्व समवाय सम्बन्ध से कारण है इत्यादि पूर्व टिप्पण में स्पष्ट लिख दिया है पूर्वोक्त चाक्षुषादि भेद से छः प्रकार का जो प्रत्यक्ष उस में महत्त्व की कारणता है और इन्द्रिय करण माना है ॥ ५८ ॥

विषयेन्द्रिय संबन्धो व्यापारः सोऽपि षड् विधः ।
द्रव्यग्रहस्तु संयोगात् संयुक्तसमवायतः ॥ ५९ ॥

संसर्गांश शून्य ज्ञानत्वं वा निर्विकल्पकत्वम् एवं विषयतया ज्ञान निरूपितत्वेन ज्ञानस्य च विषय निरूपकत्वात्प्रकारता निरूपक ज्ञानत्व सविकल्पस्य लक्षणम् ॥ १ ॥ तदुदाहरणन्तु यथाडित्थोऽयं इदंत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपक डित्थत्वप्रकारकं ज्ञानं स विकल्पकमित्यर्थः । सौगतादयस्तु सविकल्पकं ज्ञानन्नहि मन्यते उदाहरन्ति च तत्र युक्ति जाल पदार्थानां नाम्ना संबन्धा भावात् घट इति नामानुरञ्जितं ज्ञानं न प्रमाण मिति भावः । किन्च जात्यादि किमपि वस्तु नास्ति चेत्कथंतर्हि तथाभूत पदार्थस्य विशेषणतया घटादिज्ञाने भान मिति तत्तुच्छ, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष जत्वेननिर्विकल्पकवत् तस्यापि प्रमाणत्वात । सविकल्पकमन्तरा निर्विकल्पकासिद्धेश्च सविकल्पकेनैवहेतुना निर्विकल्पक साध्य सिद्धि विधानात् तथाहि विशिष्टज्ञानं विशेषण ज्ञानजन्यं विशिष्ट ज्ञान त्वात् दण्डीति विशिष्ट ज्ञानवदिति प्रयोगः ।

टी०—विषयों के साथ इन्द्रियों का जो सम्बन्ध वह व्यापार है और वह व्यापार भी छः प्रकार का है उसी को उदाहरण द्वारा दिखाते हैं यथा द्रव्यों के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय संयोग व्यापार है क्योंकि इन्द्रिय भी द्रव्य है द्रव्यों का ही परस्पर संयोग होता है और द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान गुण आदि पदार्थों के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय संयुक्त समवाय क्योंकि इन्द्रिय तो द्रव्य से संयुक्त है और उसद्रव्य में फिर रूपादि समवाय सम्बन्ध से रहते हैं क्योंकि गुण गुणि और जाति व्यक्ति आदिका समवाय सम्बन्ध माना है ॥ ५९ ॥

द्रव्येषु समवेतानां तथा तत्समवायतः ।
तत्रापि समवेतानां शब्दस्य समवायतः ॥ ६० ॥

टी०—इस कारिका में 'द्रव्येषु समवेतानां' कारिका भाग पूर्व कारिका में व्याख्यात होचुका है अब आगे 'तथा' द्रव्यों में समवेत जो गुणादि फिर उनमें समवेत जो गुणत्वादि जातियें उनके प्रत्यक्ष में तत्समवायतः अर्थात् इन्द्रिय संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष है क्योंकि इन्द्रिय संयुक्त हुआ घट रूप द्रव्य उस में समवाय हुआ नील गुण का फिर उसमें समवाय गुणत्वका है अर्थात् द्रव्य समवेत समवेत प्रत्यक्ष में इन्द्रिय संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष है यह अर्थ तत्रापि समवेतानां यहां तक निकला और श्रोत्र इन्द्रिय से शब्दके प्रत्यक्षकरनेमें श्रोत्र समवाय सन्निकर्ष है क्योंकि कर्णविवर-वर्ति आकाशको ही तो श्रोत्र संज्ञा है और शब्द आकाशका गुण है और गुण गुणिका परस्पर समवाय सम्बन्ध है ॥

तद्वृत्तीनां समवेत समवाये न तु ग्रहः ।
प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् ॥६१॥

विशेणतया तद्वदभावानांग्रहो भवेत् ।

टी०—तद्वृत्तीना अर्थात् शब्द में रहनेवाले शब्द त्वादि धर्मों का 'समवेत समवाय' सम्बन्ध से ग्रहण होता है, और समवाय का 'विशेषणता' सम्बन्ध से ग्रहण होता है। ६१।

तथा अभावों का प्रत्यक्ष भी विशेषणता सम्बन्ध से होता है दोनों स्थलों के उदाहरण यह हैं क्रमस "घटनील घटहै" इस वाक्य से नील विशिष्ट घटहै ऐसे शाब्द बोध होनेमें समवाय भी विशेषण रूप से प्रतीत होता है अतः उस में प्रत्यक्ष में विशेषणता सन्निकर्ष है तथा भूतलादि निष्ट जो घटादिकों का अभाव जैसे 'भूतले घटो न' इस स्थलमें भूतल विशेषण है क्योंकि सप्तम्यन्त विशेषण होता है और घटा 'भाववद्भूतलम्' यहांपर घटाभाव विशेषण और भूतल विशेष्य है अतः पूर्व स्थल में तो चक्षुः सबद्ध विशेष्यता सन्निकर्ष और उत्तर में चक्षु० सबद्ध विशेषणता सन्निकर्ष है ॥

*यदिस्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते ॥ ६२ ॥

टी०—इस पूर्वोक्त अभाव प्रत्यक्ष में शंका करते हैं कि भूतल में जैसे घटा भाव का प्रत्यक्ष होता है ऐसे ही स्तम्भ में पिशाचा भावचक्षु० न गृहीत क्यों नहि होता उसमें उत्तर करते हैं यदि स्यादुपलभ्येत "ति" कि सर्वत्र घटा भाव की प्रत्युत अभाव मात्र की उपलब्धि नहीं होती अपितु जिस स्थलम यदि घट होतातो उप- लब्ध होता ऐसा तर्क का प्रयोग कर सकते हैं वहा पर ही घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है सवत्र नहीं क्योंकि अन्धकार स्थलमें घटाभाव

---

*तदभूत रूपावच्छिन्नालोक संयोगावच्छिन्न महत्त्वावच्छि- न्नचक्षुः संयोगस्य चाक्षुष प्रत्यक्षे हेतुत्वान्न पिशाच तदभावयोर्ग्रह इति भावः ।

का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होसकता क्योंकि वहां पर पूर्वोक्त तर्क का प्रयोग ही नहीं कर सकते क्योंकि कदाचित् वहां घया जाने घट हो परन्तु प्रकाश स्वरूप सहकारि कारण के न होनेसे ही न प्रतीत होता हो ऐसे ही पिशाच मे भी *रूप के न होने से उस का और उस के अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि उक्त तर्क योग्यता यहां पर भी नहीं बन सकती। ६२।

अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधःपरिकीर्तितः।
सामान्यलक्षणोज्ञानलक्षणोयोगजस्तथा ॥६३॥

---

*वैशेषिक नयेतु समवायोऽतीन्द्रियः।
तदुक्तम् साक्षात्कारेत्वभावस्य स्मरणं तद्विरोधिनः।
यदन्तिकारणयोग्यानुपलम्भन मेवच। १।

अर्थः—अभाव प्रत्यक्षे प्रतियोगिनः स्मरणं प्रत्यक्ष योग्य प्रतियोगिन उपलम्भाभावश्च कारणम्। इयांस्तु विशेषोयन्न्यायनयेऽभावस्येन्द्रियैरेवग्रहः प्रतियोग्युपलब्ध्यभावस्य सहकारिकारणत्वं प्राच्योदीच्य मीमांसाकास्तु प्रतियोग्यनुपलब्धेरेवस्वतन्त्रतया प्रामाण्यं मेनिरेतत्त्रप्रिचितजन प्रतारणमात्र यदि घटस्य प्रत्यक्ष चक्षुषाऽन्यतेतर्हि तदभावस्यापि किमितितेनैवनेस्यात्स्याच्चतस्याःसहकारिकारणत्वमुतस्तर्कितप्रतियोगिसत्वविरोध्यनुपलब्धिसहकृतेनेन्द्रियेणैवाभावस्यानोपपत्तावनुपलब्धेर्मानान्तरत्वासम्भवस्त्याहुः।तदयंस्थ तर्किता आपादिता प्रतियोगिनो घटादेः सत्त्वस्य सत्त्वप्रसक्तेविरोधिनी या उपलब्धिस्तत्प्रतियोगिकोऽभावोऽनुपलब्धिस्तत्सहकृतेनेति। अन्यथा इह घटोनास्ति' इतिनिर्णयानन्तरं 'इह घटाभावं साक्षात्करोमि' इतिसाक्षात्कार विषयक प्रत्ययानुपपत्तेरिति समस्तमनवद्यम्।

यहाँ पर लक्षण पद को स्वरूप परक नहीं जानना क्योंकि यदि ऐसा करेंगे तो सामान्य स्वरूप अर्थ निकलेगा और समानों के भाव को सामान्य होने से 'तद्भूतलं घटवत्' इस स्थलमें तद घट ही सामान्य पड़ेगा परन्तु दैवात् जब उस घट का नाश हुआ तब घटाधिकरणत्वेन सकल उस घट वाले अधिकरणों का बोध नहीं हुआ चाहिये क्योंकि सामान्य रूप से भासमान घटत्व का, उस काल में अभाव है और वही अधिकरणोंके साथ ज्ञान का सबन्ध है क्योंकि इन्द्रिय संबद्ध विशेष्यक ज्ञान॰में प्रकारीभूत धर्म ही तो सामान्यरूप है अतः लक्षण पद का विषय अर्थ करना चाहिये तब सामान्य विषयकज्ञान अर्थ करना तब तो यद्यपि घट नष्ट हुआ है परन्तु उस का ज्ञान तो बना ही है तो पूर्वोक्त बोध का होना अनुपपन्न नही हुआ इसलिये अग्रिमकारिका से स्पष्ट करते हैं ॥ ६१ ॥

चाक्षुषे चन्दनस्य चक्षुर्विषयत्वेऽपि सौरभस्य तदविषयत्वात्, पूर्वानुभूतस्य सौरभस्यालौकिकं प्रत्यक्षं मन्यते तथाच-'सुरभिचन्दन मित्यत्र सौरभांशेऽलौकिकत्वम्, तत्र चक्षुःसन्निकर्षस्यानपेक्षत्वात् चक्षुः संयुक्तचन्दनसमवायस्य तत्र सत्त्वेऽप्यप्रयोजकत्वादिति भावः; एवञ्च- रज्जुसर्पादिबोधेऽपि सर्पत्वाद्युपस्थितिर्ज्ञानलक्षणसन्निकर्षादेव भवति सर्पत्वादौ चक्षुः सन्निकर्षाभावात् । अयञ्च सन्निकर्षः बहि रिन्द्रिय सहकारी, इति सम्प्रदायविदः; मनस एव सहकारी इति शूलपाणिमिश्रा अमन्यन्त (शं०) नित्यसन्निकर्षयोर्द्वयोरेवं बहिरूपत्वे तयोर्भेदो न स्यादिति (उ०) सत्यं तथापि कार्यभेदादेव भेद इति किञ्चि सामान्यलक्षणया तु जातिज्ञानेन व्यक्तीनां ज्ञानलक्षणया च जातिज्ञानेन जातीनामेव ज्ञानं भवतीत्यसकृदुक्त मेव प्रागिति तत्त्वम् ॥

आसत्तिराश्रयाणान्तु सामान्यज्ञानमिष्यते ।
तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते ॥ ६४ ॥

टी०—आसत्तिरिति, 'आसत्तिः' अर्थात् घटादि सन्निकर्ष आश्रयों नाम अधिकरणों का तो सामान्य विषयक ज्ञान ही मानना चाहिये, (शं०) यदि सामान्य विषयक ज्ञान को हि सन्निकर्ष मानोगे तो जिस स्थान पर चक्षुः संयोगादि सामग्री नहीं वहां पर भी सकल घटादिकों का चाक्षुषादि प्रत्यक्ष होना उचित है क्योंकि वहां पर सामान्य ज्ञान बना है (उत्तर) ऐसे स्थल मे अन्य सामग्री के अभाव प्रयुक्त प्रत्यक्ष का अभाव है उसी सामग्री को कहते है " तदिन्द्रियज " इत्यादि से (तत्) नेत्रादि इन्द्रिय उस से उत्पन्न जो उस धर्म प्रकारक ज्ञान उस की सामग्री कारण समुदाय अर्थात् लौकिक चाक्षुषादि प्रत्यक्षार्थ जो अपेक्षितचक्षुः संयोगादि उसको अपेक्षा अर्थात् यहां पर सकल घटादि अलौकिक बोध में भी आवश्यकता है इसी हेतु से हो तो अन्धकारादि में चक्षुरादिद्वारा घटत्वादि धर्म विशिष्ट धर्मीकाज्ञान नहीं होसकता, इस लिये वहां पर सामान्य लक्षण प्रत्यासत्तिभी नहीं होती ॥ ६४ ॥

विषयीयस्य-तस्यैवव्यापारोज्ञानलक्षणः ।
योगजो[१]द्विविधः प्रोक्तोयुक्त[२]युञ्ज[३]ानभेदतः ॥ ६५ ॥

---

१ योगाभ्यासजनितादृष्टविशेषत्वं योगजत्वम् ॥

२ योगाभ्यासवशात्सर्वदा सकल विषयक ज्ञानाधिकरणत्वं युक्तत्वम् ॥

३ चिन्तासहकारेण सकल विषयकज्ञान वत्वं युञ्जानत्वम् ॥

टी०—द्वितीय सन्निकर्ष को कहते हैं 'विषयी' इत्यादि से ज्ञानलक्षण, व्यापार 'यस्यविषयी' अर्थात् यद्विषयक ज्ञान हो तस्यैव अर्थात् अपने विषयका ही व्यापार जानना जैसे कि जिस स्थान पर 'सुरभिचन्दनं, यह चक्षुसे चन्दन को देख कर ज्ञान हुआ है वहा पर सौरभ चन्दन और चन्दनत्व यह त्रितय ज्ञानके विषय हैं परन्तु इन मे चन्दन और चन्दनत्व का लौकिक संयोग तथा नेत्रसंयुक्त समवाय सम्बन्धसे क्रमसे लौकिक प्रत्यक्ष बन सकता है परन्तु सौरभांशका चाक्षुषप्रत्यक्ष तो लौकिक संबन्ध से सर्वथा दुःशक है अतः उसके साक्षात् कारके लिये कोई अलौकिक संबन्ध मानना उचित है वह संबन्ध 'नेत्र संयुक्त मनः संयुक्त आत्मसमवेत ज्ञान रूप' परम्परा संबन्धही केवल बन सकता है इसी का नाम ज्ञानलक्षणा प्रसिद्ध है अथतृतीय सन्निकर्ष कहते हैं योगाभ्यास से दो सामर्थ्य पुरुष में उत्पन्न होते हैं इस लिये योगियों के भी युक्त और युञ्जान नाम के दो भेद हुए और योगजधर्म भी द्विविध होता है ॥ ६६ ॥

युक्तस्य-सर्वदा भानं चिन्ता सहकृतोऽपरः ॥

टी०—उन दो भेद के योगियों में युक्तयोगी को तो समाधि आदिके यत्न से बिनासारे पदार्थों का ज्ञान स्वभावसे ही सर्वदा होता है और समाधिद्वारा जिन को वाञ्छित तत् २ पदार्थों का साक्षात्कार होवे वे युञ्जान होते हैं।

इतिकारिकावली रहस्य प्रकाशे प्रत्यक्ष परिच्छेदः ।

कारिकावली रहस्य प्रकाश सहिता

श्री सद्गुरुप्रवरगङ्गाधर शास्त्रिभ्योनमः ॥

अथ अनुमान परिच्छेद का प्रारम्भ करते हैं ॥

व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत् ॥६६

अनुमायांज्ञायमानं [१]लिंगन्तुकरणंनहि ।

अनागतादिलिङ्गेन न [२]स्यादनुमितिस्तदा ॥६७॥

टीका—ज्येष्ठ होने से और निखिलवादि सम्मत और अनुमान का अनुग्राहक होनेसे अनुमानसे पूर्व प्रत्यक्ष का निरूपण किया है अब हेतु हेतु मद्भावसंगति (३) से प्रत्यक्ष के अनन्तर

१—व्याप्ति बलेन लीनमर्थंगमयतीति लिङ्गं, अथवा व्याप्ति बलेन यद्वस्तुगमकं, ततस्य लिङ्गम् । इदं लिङ्ग द्विविधं—सलिङ्गम् अलिङ्गञ्च तत्र व्याप्ति पक्षधर्मतावल्लिङ्गं ■ लिङ्गम्, तच्च व्यापकेन (साध्येन) व्याप्यं भवति तदितरन्ततथा । सांख्यमतेतु महत्तत्वादिकार्यजातं लिङ्ग पदेन परामृश्यते तत्र व्युत्पत्तिस्तु लयं गच्छति प्रधान इति ।

२—लिङ्गज्ञानजन्यलिङ्गिज्ञानमनुमितिः परामर्शज्ञानजन्यंवा, उदाहरणन्तु पर्वतेवह्निसाधने पर्वतेधूमदर्शनानन्तरं पर्वतोवह्नि-मान्, इतिज्ञानम् ।

३—प्रकृतज्ञानान्यतमत्वं सङ्गतित्वं यद्यदनन्तरं निरूप्यं भवति, तत्तस्य सगत भवति । अतएव "नासंगत प्रयुञ्जीत" इत्य भियुक्तोक्तिः । जायतेच कार्य्ये कारणे वा ज्ञाते कार्यत्वस्य कारणत्वस्य वा ज्ञानात् "किमस्यकारणंकार्य्यं वा इति, जिज्ञासा अतस्तयोर्द्वयोरपिसंगतिरस्त्येव ॥

अनुमान का निरूपण करतेहैं—"व्यापारस्तु" इत्यादि ग्रन्थ में ,,अनुमाया,, अनुमिति स्वरूपज्ञान में व्याप्तिज्ञानतो कारण है, जिसको अनुमान (४) भी कहते है और परामर्श ज्ञान, मध्य में व्यापार है, व्यापार से व्यापारी की अन्यथा सिद्धि कदापि नहि होती इस लिये व्याप्ति ज्ञान स्वरूप कारण परामर्श के द्वारा अनुमिति रूप फलको उत्पन्न करता है।

(प्र०) अनुमिति हो क्या पदार्थ है(उ०)नियम से इकट्ठे रहने वाले एक पदार्थके ज्ञान से दूसरे पदार्थके जानने को अनुमिति कहते हैं जिस एक वस्तु के जानने से दूसरी वस्तु जानी जाय उसको हेतु(५) कहतेहै जैसे पर्वत में छीन अग्नि धूम रूप हेतु से जानी जाती है, अतः धूम हेतु हुआ कई प्राचीन आचार्य्य अनुमितिमें ज्ञान विषयी भूत हेतु को कारण मानते हैं, परन्तु सिद्धान्त मे व्याप्ति ज्ञान ही कारण है इसी बात को मूल मे दिखाते है कि "ज्ञायमान" इदानी प्रत्यक्ष विषयी भूत हो लिङ्ग (हेतु) अनुमिति में कारण नहि है अन्यथा अनागत (भविष्यत) आदि पद से अतीत हेतु से अनुमिति नहि होनी चाहिये और होती तो है तथाहि—इस यज्ञ की घर में आग है, जिस से प्रात काल में यहा धूम था इस अनुमान में यज्ञशाला 'पक्ष' और आग साध्य और धूम हेतु है तो धूम कारण हुआ परन्तु अनुमिति के समय कारण (धूम) नहिं रहा

तदुक्तम्—"प्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा । निर्वाहकैककार्यैक्ये षोढा संगतिरिष्यते" इति ।

४ मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानमितिव्युत्पत्तिः । (वात्स्यायनभाष्यम् १ । १ । ३) अनुमीयतेऽनेनेतिवा ।

और कारण के बिना कभी कार्य्य नहिं उत्पन्न होता तो अनुमिति यहां नहिं होनी चाहिये, इस लिये अनुमिति में व्याप्ति ज्ञान को हि कारण मानना उचित है हेतु करण नहिं है ॥

(शं०) साध्य किस को कहते हैं (उत्तर) जो हेतु से सिद्ध करनी हो वस्तु उसे साध्य कहते हैं। (शं०) पक्ष क्या वस्तु है। (उत्तर) जिस स्थान में साध्य का जानना अभीष्ट हो, उसे पक्ष कहते हैं इस अनुमान प्रकरण में दृष्टान्त का जानना भी परम आवश्यक है जहां हेतु को देखकर साध्य का निश्चय किया हो उसे दृष्टान्त कहतेहैं इसे उदाहरणसे स्पष्ट करता हूं यथा— "पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवत् " इस में पर्वतही पक्ष है क्योंकि—आग को इस में सिद्ध करना चाहते हैं और आग को सिद्ध करना है अतः वहसाध्य है धूम से सिद्ध करना है इस लिये धूम हेतु है और धूम और वह्निका व्याप्य व्यापक भाव महानस (रसोइ) में निश्चय हुआ है अतः महानस दृष्टान्त है ॥ ६७ ॥

लिङ्गलिङ्गिनोःसम्बन्धदर्शनमनुमानम् । तच्च 'धूमोवह्नि-व्याप्यः' इति व्याप्तिज्ञानमेव, अत्र च व्यापारस्तृतीयलिङ्गपरामर्शः येषामते लिङ्गपरामर्शएवपुनरनुमितिकरणन्तन्मते फलायोगव्यवच्छिन्न कारणं करणमिति नवीनमतानुसारेणेतरत्कारणत्वाभिधानं विज्ञे-यम्। न्यायभाष्येतु प्रकारान्तरेणानुमानं त्रिधानिर्दिष्टाः,पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्टञ्चेति कारणलिङ्गकमनुमानं पूर्ववत् यथ मेघोन्नत्याद्वृष्ट्यनुमानं यत्पुनःकार्य्यात्कारणानुमानं तच्छेषव यथा " पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याःपूर्णत्वंशीघ्रत्वञ्चदृष्ट्वा स्रो तसोऽनुमीयते भूतावृष्टिः, इति । कार्य्यकारणभिन्नलिङ्गकं सामा न्यतोदृष्टं तृतीयम्, यथ,—इच्छादिभिरात्माऽनुमीयते । इच्छ दयोगुणाः, गुणाश्चद्रव्यसंस्थानाः, इतरेषां बाधाद्येषात्मस्थानं इ

व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः [१]परामर्श उच्यते।

टी०—अब परामर्श का लक्षण कहते हैं। "व्याप्यस्य" इत्यादि से व्याप्ति के अधिकरण का नाम व्याप्य है व्याप्य का अर्थात् साध्य निरूपित व्याप्ति (अविनाभाव) के आश्रय का पक्ष में सद्भाव विषयक बोध है वह परामर्श कहाता है जैसे "वह्नि

आत्मेति। शास्त्रदी० १।१।५ ननु "निर्गुणं निष्कलं शान्त मित्यादि श्रुत्यात्मनो निर्गुणत्वकथनात्कथमिच्छादि गुणाश्रयत्वमात्तस्सिद्धिरिति चेन्न श्रुत्यर्थापरिज्ञानात् तथा निर्गता 'निष्प्र-त्यनः ज्ञानेच्छादयोगुणाश्चाऽदृष्टादिभवाद् यस्मिन् सनिर्गुण इति तद्याख्यानेन विरोधपरिहारसम्भवात्। न च ज्ञानस्वरूप आत्मा कस्यचिदनुभवसिद्धः। अहं जानामि—इत्यादि प्रतीत्याज्ञानाश्रय यैवानुभवात्। अहं ज्ञानं—इति प्रतीत्यभावाच्चित्यलमनल्पेन।

१ व्याप्ति विशिष्टस्य (हेतोः) पक्षेण सह वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानत्वं परामर्शत्वम्। सच परामर्शोद्विविधः 'पक्षेव्याप्य इति पक्षप्रकारको व्याप्यविशेष्यकः', 'पक्षोव्याप्यवान्' इति पक्ष विशेष्यको व्याप्य प्रकारकश्च। तत्राद्यो यथा 'पर्वते वह्नि व्याप्योधूमः' इति ज्ञानम्। द्वितीयो यथा 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इति ज्ञानम्। विवेचनं परामर्श इत्यपि केचिदाचक्षते एतस्यच परामर्शस्यानुमितिं प्रति व्यापारत्वं व्यापार लक्षणा-क्रान्तत्वादेव तथाहि—यंजनयित्वैव यस्य यज्जनकत्वम्, सतस्य व्यापारः यथा—सन्निकर्षं जनयित्वैवेन्द्रियस्य प्रत्यक्षज-नकत्वम्, इति प्रत्यक्षे सन्निकर्षः इन्द्रियस्य व्यापारः। एवमेव व्याप्ति ज्ञानं परामर्शंजनयित्वैवानुमितिञ्जनयति, इति परामर्श-स्यानुमितौव्यापारत्वम्। द्रव्यान्यत्वे सतिभावत्वेसति, तज्ज-न्यत्वेच सति तज्जन्यजनकत्वं व्यापारत्वम्।

व्याप्यधूमवानयं पर्वतः" अर्थ—"वन्हि निरूपित जो व्याप्ति उसका आश्रय जो धूम उस वाला यह पर्वत है" इत्यात्मक अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान परामर्श है जो कि अनुमिति रूप फल में व्यापार कहा है परन्तु व्याप्ति भी अन्वय और व्यतिरेक रूप से दो प्रकार की है इसलिये परामर्श भी दो भेद की होता है इसका विस्तार अन्यत्र देखो यहां छात्रों को अनुपयोग समझ कर छोड़ दिया है॥

[1]व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसंबन्धउदाहृतः॥६८

टी०—अब व्याप्ति स्वरूप का निरूपण करते हैं॥ "व्याप्तिः" इत्यादि से साध्य हो विद्यमान जिसमें उसको साध्यवान् कहते हैं "साध्यवत." "अन्य." साध्यवदन्यः ऐसे विग्रह में साध्यवत् पद

---

१ साध्यवदन्यस्य निरुक्तलक्षणया साध्यवत्प्रतियोगिको-ऽपि, तादात्म्येनान्यपदार्थेन देशीभेदोऽन्वयः एकदेशान्वयस्तुरुरीकृत्यैवैतल्लक्षणविधानादितिभावः, भेदश्च स्वरूपेणाधिकरणे ऽन्वयः, अधिकरणत्वनिरूपितत्वसंबन्धेन वृत्तित्वे वृत्तित्वञ्च प्रतियोगितायामन्वेतीऽन्वयइति तथाच "साध्यवत्प्रतियोगिक भेदाधिकरणनिरूपित वृत्तित्वाभावो व्याप्ति" इतिलक्षणं पर्यवसन्नम् साध्य साधनयोर्मध्ये अनौपाधिकः संबन्धो वा। साव्याप्तिर्द्विविधा अन्वयव्याप्ति व्यतिरेकव्याप्तिश्च तत्रान्वयव्याप्तिरपिद्विविधा पूर्वपक्षव्याप्तिः सिद्धान्तव्याप्तिश्च पर्यालोचनात् पूर्वपक्ष व्याप्तिर्व्यभिचाराभावमित्यन्तेति तत्रोभयविधव्याप्तिग्राहकन्तु, उपाध्यभावग्रहजनित संस्कारसहकृतेन, भूयोदर्शनजनितसंस्कार सहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेण व्याप्तिरवधार्यते। एवमनुमानमपि व्याप्तिग्राहकं, तथागमेन "व्याप्तिपदस्तु" साध्यसाधनयोः "तत्संबन्धप्रयोजक" [illegible]॥

से उत्तर जो पञ्चमी उसका अर्थ प्रतियोगित्व करना अन्य शब्द का अर्थ भेदाधिकरण है और अन्य शब्द के अनन्तर सप्तमी का अर्थ निरूपितत्व है 'तथाच साध्यवदन्यस्मिन् न वृत्तिर्यस्य अर्थ, साध्य वाले से दूसरे में न हो "वृत्तिः" संबन्ध जिसका "ससाध्यवदन्या वृत्तिः" वह हुआ साध्य वाले से भिन्न में न रहने वाला उसका जो भाव वह साध्य निरूपित हेतु निष्ठव्याप्ति रूप संबन्ध कहा है। उदाहरण में लक्षण समन्वय प्रकार यह है "पर्वतोवन्हिमान् धूमात्" इस स्थल में ,साध्यवत्प्रतियोगिक भेद "वन्हिमन्न" इत्याकारक भेद ही होगा इस भेद का आश्रय तो वन्हि वाला स्थान कोई भी नहीं होगा क्योंकि स्व में स्व भेद नहीं रहता किन्तु वन्हि के आश्रयों से पृथक् जो वापी रूप तडागादि हैं वही होंगे उन में "वृत्तित्व" अर्थात् रहना तो मीनशैवालादिकों का है वृत्तित्व का अभाव हेतु धूम में रहा तो लक्षण समन्वय हुआ ऐसे ही "धूमवान वन्हेः" इस अलक्ष्य व्यभिचारी में अतिव्याप्ति भी नहीं है क्योंकि यह साध्यवन्न" इस पूर्वोक्त भेद का अधिकरण धूम शून्यतप्त लोह का पिण्ड भी है क्योंकि जबकि उसमें धूम नहीं है तो धूम रूप साध्य वाले महानसादिकों का भेद रह सकता है परन्तु उसमें हेतुभूत वन्हि का वृत्तित्व ही है वृत्तित्वाभाव नहीं हुआ तो अलक्ष्य में लक्षण के न घटने से पूर्वोक्त लक्षण अति व्याप्त भी नहीं हुआ। परन्तु यह लक्षण केवलान्वयि में सम न्वित नहीं होता क्योंकि "इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्" अर्थ—यह नाम का विषय क्योंकि ज्ञान का विषय है इस अनुमान में जगत्पक्ष है वाच्यत्व साध्य है आत्र्ज्ञेयत्व हेतु है परन्तु वाच्यत्वसारेपदार्थों में रहता है इस वास्ते साध्य वदन्य अप्रसिद्ध है, उसको अप्रसिद्धि

से तन्निरूपित वृत्तित्व वृत्तित्वाभाव सुतरां अप्रसिद्ध तो ज्ञेयत्वरूप साध्य में लक्षण के न घटने से अव्याप्ति इसलिये आगे सिद्धान्त लक्षण करते हैं ग्रन्थकार ग्रन्थ से ॥६८॥

अथ वाहेतुम न्निष्ठविरहाप्रतियोगिना ॥
साध्येनहेतो रेकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते ।६९।

अधिकरण पर्वतमहानसादिओं मे वर्तने वाला जो अभाव वन्हि का अभाव नही धरसकते क्योंकि अत्यन्ताभाव का प्रतियोगीके साथ विरोधहै जब पूर्वोक्त अधिकरणों मे वन्हिरूपपदार्थ है तो उसका अत्यन्ताभाव उनसे कैसे कहें इस लिये ऐसा अभाव घटाभावादि ही होगा क्योंकि वे घटादि उन पर्वतादि में नही है अतः उसके प्रतियोगी घटादि हुए अप्रतियोगि वन्हि है और वही साध्य है उसके अधिकरण पर्वत में हेतु धूमका रहना है इसलिये लक्षण समन्वय हुआ। और धूमवानवन्हेः, महानसवत्, ऐसे व्यभिचारी रूप असद्धेतुमें भी लक्षण संगत नही होता जैसाकि उक्तव्यभिचारी में हेतु वन्हि है और वन्हि के आश्रय लोहपिण्डमेधूमनही रहता किन्तु धूमाभाव ही रहता है तो धूमरूप साध्य प्रतियोगी हो होगया अप्रतियोगी नही रहा तो लक्षण समन्वय नहीं हुआ क्योंकि इसे हेतु के अधिकरणमे रहने वाले अभावका अप्रतियोगी साध्य चाहिये वह प्रकृत में नही हुआ। और "इदवाच्य प्रमेयत्वात् घटवत्" इस अनुमान में हेतु प्रमेयत्व है, और प्रमेयत्व का आश्रय सकल जगत् है जगत् में घटपट आदि सारे पदार्थों का अभाव रहता है, किन्तु वाच्यत्व का अभाव कहीं नही रहा क्योंकि वाच्यत्वतो सारे ही जगत् में रहता है ऐसे साध्यवाच्यत्वके साथ प्रमेयत्वहेतु समस्त जगत् मे रहता है तो अव्याप्ति हटगई और प्रमेयत्व सद्हेतु है यद्यपि व्याप्तिमे बहुत विचार कर्तव्य है (अर्थात् साध्य में साध्यता वच्छेदक सवन्ध और धर्मादियों का निवेश तथा हेतु में हेतुता वच्छेदक संबन्ध और धर्मके निवेश कर्तव्य है) तथापि उस विचार को दुरूह होने से बालकों के लिये अनुपयोगी समझकर त्याग दिया है॥ ६८॥

सिषाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यते ।
स पक्षस्तत्रवृत्तित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत् ॥७०॥

(१) अब पक्षता और (२) पक्ष के स्वरूप को दिखाते हैं ॥

टी०—"सिषाधयिषया" इत्यादि ग्रन्थसे जहां पर व्याप्ति ज्ञान परामर्श आदि सारी सामग्री अनुमान की हो, परन्तु साध्यका निश्चय पक्ष में होजावे, तो अनुमिति कभी नहीं होती तो सार कारण रहे भी और कार्य्य नहीं उत्पन्न हुआ, इससे किसी कारण की न्यूनता से सामग्री में न्यूनता आती गई, वह कारण पक्षता है। कई आचार्य "साध्य सन्देहः पक्षता" अर्थात् साध्य

---

१ सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्ध्यभावत्वं पक्षता लक्षणम् अवेदंबोध्यम्—सिद्धेः('पर्वतो वन्हिमान्' इति निश्चयः) सत्वे पर्वतो वन्हिमान्' इत्यनुमित्यनुत्पत्तेः, सिद्धिरनुमितौ प्रतिबन्धिका, सिद्ध्यभावोऽनुमितौ कारणमिति वक्तव्यम्। एवं सत्यपि, पर्वतादौ पक्षे साध्य निश्चये सत्यपि, सत्याऽनुमितिषाधयिषायां 'पर्वतो वन्हिमान्' इत्यनुमिति दर्शनात् तत्र सिषाधयिषा उत्तेजिकाऽवाच्या तत्र पक्षता सम्पत्तये सिषाधयिषा विरह विशिष्टत्वं सिद्धेर्विशेषणम्। (२) पक्षताश्रयत्वं पक्षस्य लक्षणम्। अनुमित्युद्देश्यत्वं पक्षत्वं वा इदञ्च "गगनं मेघवदित्याकारक गगनत्वावच्छिन्न विधेयता कानुमिति दर्शनात् प्राचीनोक्त साध्य संदेहात्मक लक्षणं विहाय नवीनैः स्वीकृतम्। साध्य प्रकारक निश्चय विशेष्यत्वं सपक्षत्वम् निश्चयश्च महान् सवन्हिमदित्याकारकः साध्याभाव प्रकारक निश्चय विशेष्यत्वम् विपक्षत्वम् निश्चयश्च ह्रदो वह्न्यभाववानित्याकारकः।

कार्यानुकूलधर्मविघटकत्वंप्रतिबन्धकत्वम्। प्रति बन्धक प्रतिबन्धकत्वमुत्तेजकत्वम्।

का जो पक्ष में अनुमिति से पूर्व संशय है वही पक्षता है और उस वाला पक्ष है उनका यह अभिप्राय है कि अनुमिति से प्रथम साध्य का सन्देह नियमसे रहता है इस लिये उक्त स्थल में साध्य का निश्चय होने से साध्य का संशय (पक्षता) नहीं है इससे अनुमिति नहीं होती इस प्रकार से उक्त दोष को दूर करते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है जिससे गृह के भीतर स्थित पुरुष को भी मेघ गर्जन से संदेह के विना भी "गगनं, मेघवत्, गर्जनात्, इत्यादि स्थलों मे मेघादि की अनुमिति देखी गई है किन्च साध्य का प्रत्यक्षात्म निश्चय होने पर भी यदि अनुमित्सा अर्थात् मुझे अनुमित्यात्मक साध्य का ज्ञान हो ऐसी इच्छा हो तब भी अनुमिति होती ही है क्योंकि "प्रत्यक्षेणावगतेपि पदार्थेऽनुमानेन बभुत्सन्ततर्करसिकाः" अर्थ—प्रत्यक्ष प्रमाण से पदार्थ के निश्चित होने पर भी तार्किक उसे अनुमान प्रमाण से ही जानना चाहते हैं अतएव अनुमित्सा मात्र भी पक्षता नहा है क्योंकि मेघ के गर्जने से विना इच्छा के भी मेघ का अनुमान होता है सो न होना चाहिये इस वास्ते सिद्धान्त मूल से दिखाते हैं साध्य के सिद्ध करने की इच्छाका नाम 'सिषाधयिषा' है उससे शून्य जो सिद्धि (प्रत्यक्षात्म निश्चय) अर्थात् सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्धि उसका जो अभाव वह पक्षता है यह जिसमे रहे वह पक्ष उसमें हेतु के वर्तने के ज्ञानसे अनुमिति होती है यह मूल कारिका का अर्थ है।

अनैकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः ॥
कालात्ययापदिष्टश्च[1]हेत्वाभासास्तु पञ्चधा॥७१।

---

१ "अनुमिति तत्करणान्यतर प्रतिबन्धक ज्ञान विषयो

अथ प्रसङ्ग सङ्गति से हेत्वाभासोंका स्वरूप दिखाते हैं ॥

टी०—"अनैकान्तः" इत्यादि मूल ग्रन्थ से अनैकान्त विरुद्ध असिद्ध सत्प्रतिपक्ष, (प्रकरण सम) और कालात्ययापदिष्ट, (बाधित) यह पांच हेत्वाभास होते हैं विवादी के अनुमानों में दोष देने वास्ते और अपने अनुमानों में सारे दोष हटानेके लिये हेत्वाभास (दुष्टहेतुओं) का जानना भी अभीष्ट है इसलिये हेत्वाभासों का निरूपण करना भी योग्य है इन पांचों का मिला हुआ लक्षण यह है, कि जिसका ज्ञान अनुमिति वा अनुमिति कारण (व्याप्ति ज्ञान) का प्रतिबन्धक हो, ऐसे दोष वाले अनुमान की हेतु को हेत्वाभास (दुष्टहेतु) कहते हैं। जैसाकि ह्रदोवह्निमान् धूमात् इस अनुमान में वह्न्यभाववद्ह्रद बाध वह्न्यभावव्याप्यवान् ह्रदः सत्प्रतिपक्ष और धूमाभाव वद्ह्रदः स्वरूपासिद्धि है । इनका विशेष निरूपण विशेष लक्षण में स्पष्ट होगा ॥

धर्मरतत्त्वं हेत्वाभासस्य लक्षणम्। पञ्चरूपोपपन्नत्वाभावे सति तद्रूपेण भासमानत्वं वा। पञ्चरूपाणि तु—पक्षसत्त्वं सपक्षसत्त्वं विपक्षासत्त्वं, अबाधितत्त्वं, असत्प्रतिपक्षितत्त्वञ्चेति एषु केनापि रूपेण रहिताः केचिदन्विता हेत्वाभासाः पञ्चधा गौतमेन प्रपञ्चिताः। "हेतोराभास सदृश इति न्याय बिन्दुटीकायां तत्र सादृश्यं च पञ्चम्यन्त पद प्रतिपाद्यत्वेन। अथवा हेत्वाभासा इति काश्यपादा जगिरे तद्यथा—असिद्धि, विरोधः, सन्दिग्धत्वं अत्रेदमाकूतम्—साधनस्य पक्षे न सत्यनन्वी तत्र बाध आश्रय सिद्ध्यादौ अनैकान्तिकेऽपि पर्यवस्यति सत्प्रतिपक्षोऽप्यन्यतरत्र व्याप्त्यादि संशय सम्पादयन्ननैकान्तिकादावेव पर्यवस्यति, इति। तदुक्तम्—"विरुद्धासिद्ध सन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्" ॥

आद्यः [1]साधारणस्तु स्या[2]दसाधारणकोऽपरः ।
तथैवानुप[3]संहारी [4]त्रिधाऽनैकान्तिको भवेत् ॥७२॥

टी०—अब हेत्वाभासों के विशेष विभाग दिखाते हैं "आद्य इति" पूर्वोक्त उन पञ्चविध हेत्वाभासों में अनैकान्तिक (व्यभिचारी) तीन भेद का है प्रथम साधारण, द्वितीय असाधारण, और तृतीय का नाम अनुपसंहारी है ॥ ७२ ॥

यः सपक्षे विपक्षे च भवेत्साधारणस्तु सः ।
यस्तूभयस्माद्व्यावृत्तः स त्वसाधारणो मतः ॥ ७३ ॥

---

१ साध्याभाववद्वृत्तित्वं साधारणत्वम् ।

२ सर्वसपक्ष विपक्ष व्यावृत्तत्व मसाधारणस्य लक्षणम् ।

३ यत्तुसाध्य पक्षत्वमनुपसंहारित्वं तल्लक्षणम् "सर्वं वाच्यं प्रमेयत्वात्" अत्र सर्वस्यैव पक्षत्वेन व्यतिरेक दृष्टान्तो नास्तीति प्रमेयत्वं हेतुरनुपसंहारी । एतज् ज्ञानस्य व्याप्ति संशय जनकतया व्यतिरेक व्याप्तिग्रह प्रतिबन्धः फल मितितत्त्वम् । वस्तुतस्तु, अत्यन्ताभावाप्रतियोगि साध्यकत्व मनुपसंहारित्वं तच्च प्रकृत हेतौ सञ्जाघटीतीति लक्षण समन्वयः ॥

४ अथ व्युत्पत्तिः, एकस्य साध्यस्य तदभावस्य वाऽयोऽन्तः सहचारोऽव्यभिचरितसहचार एकान्तः, तस्येत्यैकान्तिकः (गौ० सू० १ । ४५) तदन्योऽनैकान्तिकः । अयमेव सव्यभिचार पदेन गीयते, वैशेषिकमते तु सन्दिग्ध इत्युच्यते इतिज्ञेयम् । लक्षणन्तु सव्यभिचारात्मकदोषवत्त्वम् । न्यायभाष्येऽपि निदर्शनं "नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात्"—नित्यत्वमप्येकोऽन्तः । अनित्यत्वमप्येकोऽन्तः । एकस्मिन्नन्ते विद्यत इत्यैकान्तिकः । विपर्ययादनैकान्तिकः । उभयान्त व्यापकत्वात् ।

टी०—जो हेतु सपक्ष 'निश्चित साध्यवाले' विपक्ष निश्चित साध्याभाववाले, में रहे वह साधारण कहा जाता है। और जो हेतु सपक्ष विपक्ष दोनों में नहि वर्तता किन्तु केवल पक्षमात्र में ही रहे वह असाधारण कहा जाता है। ये उक्त तीनों भेद व्याप्ति ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं इनका उदाहरण क्रम से "धूमवान् वन्हेः" इस अनुमान में धूम शून्य लोहपिण्ड (विपक्ष) में तथा महानस (सपक्ष) में वन्हि का निश्चय है अतः वन्हि रूप हेतु साधारण है तो "धूमशून्यावृत्तित्व" स्वरूप व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्ध हुआ है क्योंकि विपक्षवृत्तित्व रूप व्यभिचार विषयक ज्ञान होने से व्याप्तिज्ञान का उदय कदापि नहि होता और "शब्दोनित्यः शब्दत्वात्" इस अनुमान में शब्दत्वहेतु सपक्ष गगनादि और विपक्ष घटादिकों में व्यावृत्त है किन्तु पक्ष (शब्द) मात्र में रहता है अतः 'शब्दत्व' असाधारण है यह हेतु "साध्यसामानाधिकरण्य" रूप व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक है क्योंकि हेतु में जब साध्यवदवृत्तित्व निश्चय हुआ तो साध्यवद्वृत्तित्व ज्ञान कभी नहिं होगा ॥ ७२ ॥

इदन्तु बोध्यम्—यद् व्याप्तिग्रह प्रतिबन्धकतावच्छेदकतयैव जनकत्वेन साधारण्यादीनामेकहेत्वाभासत्वम्। तत्र साधारणेन व्यापकत्वस्य असिद्ध निश्चयात्, असाधारणेन सामानाधिकरण्यस्य अनुपसंहारित्वेन व्यतिरेक व्याप्तेः ग्रहस्य प्रतिबन्धात् साधारण्यादी त्रयाणां सम्भवः। अनुमिति करण व्याप्ति ज्ञान प्रतिबन्धक ज्ञान विषयतयाच दुष्टत्व साधारण्यादीनामेव भवति इति। यद्यपि बहु काष विरुद्ध स्वरूप संगतिभांति साधारण्य सत्वात्ऽपि तथापि दूषकता बीज भेदाद्विशेषासत्वस्य इति समास मेवानाङ्गमम्।

तथैवानुपसंहारी केवलान्वयि पक्षकः ।

टी०—ऐसे जिस हेतु का पक्ष केवलान्वयि हो वह अनुपसंहारी कहा जाता है "उदाहरण—" सर्वं अभिधेयं प्रमेयत्वात्" इत्यादि स्थलों में वस्तु मात्र को पक्ष होने से साध्य के साथ हेतु का सामानाधिकरण्य ग्रहण करने के लिये कोई स्थल शेष नहीं है क्योंकि व्याप्ति ग्रहभूमि ही तो दृष्टान्त होता है एवं सामानाधिकरण्य ग्रह रूप कारणीभूत व्याप्ति ज्ञान के न होने से अनुमिति रूप कार्य भी ऐसे स्थलों में नहीं होता यह प्राचीनों का मत है इस पक्ष को त्याग करके नवीन "केवलान्वयिसाध्यकत्व" लक्षण करते हैं उनका यह तात्पर्य है कि यद्यपि पक्षातिरिक्त स्थल व्याप्ति ग्रह का न भी मिले तथापि पक्ष के एक देशमें ही सहचार ग्रह हो जायगा तो कुछ हानि नहीं है अब नवीन लक्षण में अर्थ जिस हेतु का साध्य अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न हो उसे अनुपसंहारी कहते हैं उक्त उदाहरण में वाच्यत्व सारे जगत में रहने वाला साध्य है यह निश्चय है कि वाच्यत्व का अभाव अप्रसिद्ध है तो वाच्यत्वाभाव का व्यापक जो अभाव उसका प्रतियोगी प्रमेयत्व है, इस व्यतिरेक ज्ञान को नहीं होने देगा ।

यः साध्यवति नैवास्ति[१] स विरुद्ध उदाहृतः ॥७४॥

---

१ साध्य व्यापकी भूता भाव प्रतियोगित्वं विरुद्धस्य लक्षणम्

पक्षविशेष्यक साध्याभाव व्याप्य हेतु प्रकारक ज्ञान-पक्षविशेष्यक साध्य प्रकारकानुमिति प्रतिबन्धः फलम् । एवं सत्प्रतिपक्षेऽपि । विरुद्ध सत्प्रतिपक्षयोर्विशेषस्तु हेतोरेकत्वेन हेतो द्वित्वेन चावगन्तव्य । साध्याभाव व्याप्य प्रकृत हेतुर्विरुद्धः । साध्या

टी०—जो हेतु साध्य के आश्रय में न रहे अर्थात् साध्याभाव के साथ व्याप्ति रखे उसको विरुद्ध कहते हैं, जैसे "अयं गौरश्वत्वात्" यहां पर जहां २ अश्वत्व है वहां २ गोत्वाभाव है इस प्रकार को साध्याभाव के साथ व्याप्ति होने से अश्वत्व हेतु विरुद्ध है इस हेतु का ज्ञान साक्षात् अनुमिति का प्रतिबन्धक है क्योंकि गोत्वाभाव के साथ व्याप्ति वाले अश्वत्ववत्ता के ज्ञान होने पर गोत्वनिश्चय नहीं हो सकता ॥ ७४ ॥

आश्रयासिद्धिराद्यास्यात्स्वरूपासिद्धिरप्यथ ॥
व्याप्यत्वासिद्धिरपरास्यादसिद्धिरतस्त्रिधा ॥७५॥

टी०—अब असिद्धि का विभाग कहते हैं "आश्रयासिद्धि" इत्यादि ग्रन्थ से असिद्धि तीन प्रकार की है प्रथम का नाम आश्रयासिद्धि द्वितीय का नाम स्वरूपासिद्धि और तीसरी का नाम व्याप्यत्वासिद्धि है ॥ ७५ ॥

पक्षासिद्धिर्यत्र पक्षो भवेन्मणिमयोगिरिः ॥

भाव व्याप्य प्रति हेतुसत्पक्ष. सत्प्रतिपक्ष इति विवेकः । विरुद्ध साध्याभाव साधको हेतुः साध्य साधकत्वेनोपन्यस्त इत्य सामर्थ्य सूचनमतोऽयमल पत्वविवेचन।

१ आश्रयासिद्धयाद्यन्यतमत्वम सिद्धि सामान्य लक्षणम् ।
व्याप्ति—पक्षधर्मता न्यतर रहितो हेत्वसिद्धः । अयमेव साध्य सम इत्युच्यते। (वात्स्या० १।२।४८) उदयनाचार्यास्तु पक्ष धर्मता ज्ञानाभावः व्याप्यत्वस्य पक्षधर्मतया प्रमितिः सिद्धि स्तदभावोऽसिद्धि रित्याहुः । परामर्श प्रति बन्धक ज्ञान विषयो धर्मो वा।

टी०—जिस स्थल में मणिमय पर्वत को पक्ष करके उसमें वन्हि की अनुमिति की जाय वहां पर 'पक्षासिद्धिः' अर्थात् आश्रयासिद्धि होती है जैसे "मणिमय पर्वतो वन्हिमान् धूमात् " इसका लक्षण यह है कि पक्ष मे पक्षतावच्छेदक का अभाव आश्रयासिद्धि कही जाती है उक्त उदाहरण में पर्वत रूप पक्ष में मणिमयत्व नहीं है क्योंकि मणिमय पर्वत अप्रसिद्ध है एवं "गगनारविन्दसुरभि-अरविन्दत्वात् सरोजार विन्दवत्" इत्यादि स्थल में भी आश्रयासिद्धि जाननी चाहिये यहां पर भी 'गगनीयत्व' अरविन्द में नहीं इसका ज्ञान भी अनुमिति का प्रतिबन्धक है क्योंकि अरविन्द में गगनीयत्वाभाव निश्चित होने पर गगनीयत्व विशिष्ट अरविन्द में सौरभ्य की अनुमिति कदापि नहीं होगी ॥

ह्रदो द्रव्यं धूमवत्त्वादत्रा सिद्धि रथा परा ॥७६॥

टी०—"ह्रदो द्रव्य धूमवत्त्वात्" इत्यादि स्थल में स्वरूप सिद्धि है क्योंकि पक्ष में हेतु के न रहने को स्वरूपासिद्धि कहते हैं, और उसके अधिकरण को स्वरूपासिद्ध जानना चाहिये तो प्रकृत हेतु धूम का पक्ष ह्रद में अभाव है इसका ज्ञान परामर्श का प्रतिबन्धक है यथा हेतु के अभाव विशिष्ट पक्ष है ऐसा ज्ञान हो जाने से पक्ष विशेष्यक हेतु प्रकारक परामर्श कदापि नहीं हो सकता ॥ ७६ ॥

व्याप्यत्वासिद्धिरपरानीलधमादिके भवेत् ॥

टी०—"पर्वतो वन्हिमान् नीलधूमात्" इत्यादि स्थलों में व्याप्यत्वासिद्धि नामक तृतीय असिद्धि होती है, प्रकृत उदाहरण में नीलधूमत्व गुरुधर्म होने से हेतुतावच्छेदक नहीं होसकता क्योंकि जब गुरुधर्मत्व को लाघवतर्क युक्त हेतुतावच्छेदकत्व

सकता है तो नीलधूमत्व को मानने में गौरवापत्ति अवश्य है हेतु में हेतुता वच्छेदकका अभाव को व्याप्यत्वा सिद्धि कहते हैं तथा को (१)व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं जैसे निचला उदाहरणमें अथवा "पर्वतो वन्हिमान् काञ्चनमयधूमात्" यहां पर क्रमशः व्याप्यतावच्छेदकत्वेन अभिमत नील धूमत्व यहां द्वितीय उदाहरण में काञ्चनमयत्व,येदोनों धर्म हेतु धूममें नहीं है तो लक्षण समन्वय होगया। इसकाभाव भी परामर्शका प्रतिबन्धकहै धूममें नीलधूमत्व नहीं है

अथवा काञ्चनमयत्व नहीं है इस ज्ञान के होने पर " वाप्य ध्याप्य नील धूमवान् पर्वतः "

अथवा "वन्हिव्याप्यकाञ्चनमयधूमवान् पर्वतः इत्यकारक परामर्श नही होसकता, क्योंकि यह परामर्श धूम मे नीलधूमत्व अथवा काञ्चनमयत्व सम्बन्धावगाही है ॥

विरुद्धयोः परामर्शो हेत्वोः सत्प्रति[१]पक्षता ॥७७॥

टी०—परस्पर विरुद्ध हेतुओंके परामर्शमें सत्प्रतिपक्ष होता है। अर्थात् जिस हेतु के साध्य के अभाव सिद्ध करनेवाला द्वितीय हेतु हो वह हेतु सत्प्रति पक्ष होता है जैसे 'पर्वतो वन्हिमान् धूमात् महानसवत्' 'पर्वतो वन्ह्यभाववान् पाषाणमयत्वात् कुड्यवत्' यहां दोनों अनुमानों में दोनों हेतुओं को परस्पर साध्याभाव साधक होने से परस्पर सत्प्रतिपक्षता है इस का ज्ञान साक्षात् अनुमिति का प्रतिबन्धक है क्योंकि जब 'वन्हिव्याप्यधूमवान्' वन्ह्यभाव ध्याप्यवात्त्व, पर्वतः इस प्रकार के दो परामर्श हुए तो एक से भी अनुमिति नहीं होगी। ७७।

साध्य शून्यो यत्र पक्ष स्त्वसौ[२]बाधउदाहृतः।
उत्पत्ति कालीन घटे गन्धादिर्यत्र साध्यते ॥ ७८

---

(१)साध्याभाव साधक हेत्वन्तरं यस्यस सत्प्रतिपक्षः अत्र तुल्य बलयोरेव सत्प्रति पक्षत्वम्, नातुल्य बलयोरिति नियमः तेन एक तरच तर्कादि बलसत्त्वे तावैवान्यतरबाधकता इति बोध्यम् सन् (विद्यमान.) प्रतिपक्षो विरोधि ध्याप्त्यादि सत्तया परामृश्यमानस्य हेतो रसौ सत्प्रतिपक्ष इति विग्रहः।

२ बाधः (हेत्वाभासः, हेतु दोष) तल्लक्षणन्तु 'साध्या

जिस अनुमान में पक्ष साध्यसे रहित हो वहांबाध दोष होता है जैसे "उत्पत्तिकालीनो घटः गन्धवान् पृथिवीत्वात्" इस अनुमान में उत्पत्ति कालावच्छेदेन घट रूप पक्ष में गन्ध रूप साध्य की सिद्धि इष्ट है परन्तु उस क्षण में घट में गन्ध गुण नहीं होता क्योंकि उत्पत्ति कालमें द्रव्य निर्गुण उत्पन्न होता है यह पूर्व कह चुके हैं उदाहरणान्तर जैसे "वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात् जलवत्" यहां पर वह्निपक्ष में अनुष्णत्वाभाव उष्णत्व का त्वगिन्द्रिय से ग्रहण होने से द्रव्यत्वहेतु बाधित है इस का ज्ञान भी साक्षात् अनुमिति का प्रतिबन्धक है क्योंकि पक्ष्यत्वादि में जब साध्य के बाध का निश्चय हुआ तो साध्य की अनुमिति कभी नहीं होगी जिससे तदभाव लौकिक निर्णय तद्वत्ता बुद्धि का प्रतिबन्धक होती है ॥ ७८ ॥

इति कारिकावली रहस्य प्रकाशेऽनुमानपरिच्छेदः॥

भावस्य प्रमाविषयत्वम् । तथाच—साध्याभाव पक्षैवदोषः । साच प्रमात्वेन ज्ञातैन भावरूप सती साध्याभाव सत्पक्षको हेतुर्बाधित

अयमेव कालात्ययापदिष्ट इति कथ्यते कालस्य (अनुमान कालस्येत्यर्थः) अत्ययेऽप दिष्टो निर्दिष्टः कालात्ययापदिष्टः इति।

कारिकावलीरहस्यप्रकाशसहिता।

(१) अब अवसर सङ्गति के अभिप्राय से उपमिति का निरूपण करते हैं।

ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम्।
सादृश्यधीर्गवयादीनां यास्यात्साकरणमतम्॥७९॥
वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापारउच्यते।
गवयादिपदानांतु शक्तिधी[१]रुपमाफलम्॥८०॥

टी॰—कोई नागरिक पुरुष जिसने कि वन के मृग कभी नहीं देखे थे जिन में से एक गवय के विषय में किसी वन के रहने वाले मनुष्य से उसने सुना कि प्रायः गौ की नाईं जिसके अङ्ग हों, उसे गवय कहते हैं। दैवसंयोग से वही कभी वन में चला गया, वहां उसने गौ के तुल्य एक मृग देखा, उस मृग के अङ्ग गौ के अङ्गों की नाईं देखके उसे उक्त बात का स्मरण हुआ, कि गौ के तुल्य अङ्गों वाला मृग गवय होता है, पीछे से उसे निश्चय हुआ, कि ऐसे २ मृगों को गवय कहेंगे इसी को अतिदेश कहते हैं इस मृग के अङ्गों का गौ के अङ्गों की नाईं जानना उपमिति का करण है, इसी सादृश्य ज्ञान को (२) उपमान कहते हैं, उक्त वाक्य का स्मरण उपमिति में व्यापार है, और शक्तिज्ञान (ऐसे २ मृगों को गवय कहेंगे) उपमिति है। और अलंकार शास्त्र में जिसे उपमा कहते हैं, यहां भी उसी को उपमिति कहते हैं। केवल इतना ही भेद है, कि यहां साधारण धर्म उपमा है और

---

(१) वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानस्यहेतुत्वेन वाक्यार्थज्ञानस्यापेक्षितत्वात् निरूपयिष्यमाणतयातः प्रागेवोपमिति विचारो युक्तइति।

यहां साधारण धर्म का ज्ञान उपमिति है जो धर्म उपमान और उपमेय दोनों में रहे, उसे साधारण धर्म कहते हैं ॥ ७९ ॥ ८० ॥

इति कारिकावली रहस्य प्रकाश उपमानपरिच्छेदः

---

(२) उपमानजन्य शक्तिज्ञानमुपमायाः (उपमितेः) लक्षणम् मिदर्शनम्—"गवयोगवयपदवाच्य." । (३) उपमानलक्षणन्तु प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् । अन्यच्च "प्रसिद्धवस्तु साधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् । उपमानं समाख्यातं यथागौर्गवयस्तथा ॥ १ ॥प्रसिद्धस्य पूर्वप्रमितस्य गवादेः साधर्म्यात् सादृश्यात् तज्ज्ञानात् साध्यस्यगवयादि पदवाच्यत्वस्य साधनं सिद्धिर्यत स्तत्साधारणधर्म करणमुपमानम्. पदवाच्यत्वसाधनसिद्धिकरण स्फुटा करणमुपमानमेवेदम् । गौसदृशोगवयपदवाच्य इत्याकारक वाक्यार्थ गौ सादृश्यावच्छिन्न पिण्डविशेषस्य गवय पदवाच्यत्वप्रकारकं यज्ज्ञानं जायते तद्दैवकरण (उपमानं) कथ्यते । सादृश्य प्रमाकरण मिति वेदान्तिनः । आलङ्कारिकास्तु "सादृश्यप्रतियोगि,उपमानम् । यथा "चन्द्र इव मुखमित्यादौ चन्द्र उपमानम् । साहित्यकास्तु, साधारणधर्मसम्बन्धेनेषदितरपरिच्छेदकत्वम्. इत्याहुः [illegible] कोऽश्च, उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वं नहि स्वीकुर्वन्ति, तथाहि पदवाच्यत्वस्यापि सादृश्यादि धर्माणामपदवाच्यत्वव्याप्तिमिति वैशेषिकोपमानं प्रमाणान्तरमित्याहुः । यथा—ग-

अब शब्द और उपमान को परस्पर उपजीव्योपजीवक भाव रूपसङ्गति के अभिप्राय से शाब्द बोधका निरूपण करते हैं।

[1]पदज्ञानंतु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।

टी०—"पदज्ञानं" इत्यादि ग्रन्थ से अब मूलकारक शाब्द बोधको प्रकाशित करते हैं शाब्द बोध में पदज्ञान करण है; और पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति उसमें व्यापार है अर्थात शब्द

न्तरमवश्यमेष्टव्यमिति किञ्च, उपमितेः प्रत्यक्षादि प्रमितिभ्यो तिरिक्तत्वाद् विलक्षणोपमिति कारणत्वेन पृथक्त्वतयाप्युपमानमस्त्ये- ति मम तत्र मतदाता तदुक्तम्—तस्मादत्र समग्रयी नामेत्येवंविधाम- तिः। उपमानैकजन्यैव न प्रमाणान्तरोद्भवा ॥१॥ तच्चोपमानं त्रि- विधम्। सादृश्य विशिष्टपिण्ड ज्ञानम्, असाधारण धर्मविशिष्ट पिण्डज्ञानम् वैधर्म्य विशिष्ट पिण्ड ज्ञानञ्चेति। तत्राद्यम् गो सादृश्य विशिष्ट पिण्डज्ञानम्, द्वितीयम्—खड्गमृग (गैंडा) ज्ञानम् अत्रासाधारण धर्मश्च नासिकालसदेक शृङ्गत्वम्, इति ज्ञेयम् तृतीयम्—उष्ट्रज्ञानम्। अत्र वैधर्म्यं तु नत पृष्ट दीर्घ ग्रीवादि ज्ञानमिति।

१ शक्ति लक्षणान्यतर वृत्त्या पदार्थ प्रत्यय जनकत्वं पदस्य लक्षणम्। तच्च न्यायनये द्विविधम्। मुख्यम्, गौणंच। यच्छक्ति वृत्त्यायमर्थमुपस्थापयति तत्तस्मिन्नर्थे मुख्यम्। यथा गोघटादि व्यक्त्युपस्थापकं गो घटादिपदम्। मुख्यमपि चतुर्विधम्। यौ- गिकम्, रूढम् योगरूढम्, यौगिकरूढञ्चेति तत्राद्यम—पाचकादि पदम्। द्वितीयंब्राह्मण वाचकं विप्रपदम्,गोमण्डपादिपदंच, तृतीयं पंकजादि पदम्। चतुर्थं मुद्भिदादि पदम्,इति। यत् लक्षणया यमर्थ मुपस्थापयति तत् तस्मिन्नर्थे गौणम्, लाक्षणिकं, इति च उच्यते यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र लक्षणावृत्त्यातीरोपस्थापकंगङ्गापदम्

के द्वारा जो वाक्यार्थ का ज्ञान हो उसे शाब्द बोध कहते हैं, परंतु पदों के जानने के बिना वाक्य और वाक्यार्थ का जानना असंभव है इस लिये शाब्द बोध में पद का ज्ञान करण (साधन) है परन्तु विना व्यापार के साधन कुछ नहि कर सकता, इसलिये शक्ति वा लक्षणा के द्वारा जो पद से अर्थ का ज्ञान हो, वह शाब्द बोध में व्यापार है इतना अवश्य जानना कि ज्ञायमान पद करण नहि है किन्तु पद ज्ञान ही हो सकता है. अन्यथा मौनि पुरुष निर्मित श्लोकमें शाब्द बोध नहीं हुवा चाहिये तात्पर्य्य यह है कि शब्द मात्र को श्रोत्र ग्राह्य होने से "पद" भी तो शब्द विशेष ही है परन्तु जब मौनिरचित श्लोक अथवा लेख हस्तादि चेष्टा से दूसरे को बोध दृष्ट होता है तो वहां पदश्रवणाभाव दशा में भी शाब्द बोध रूप फल के उत्पन्न होने से व्यभिचार पड़ता है इस लिये कहते हैं, पदज्ञान करण है ज्ञायमान पद नहि है॥

(१)शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी॥८१

टी०—पद शक्ति ज्ञान सहकारिकारण है और ऐसे स्थानमें शाब्द बोध स्वरूप फल होता है तात्पर्य यह है कि कुचचित् शक्ति

---

(१) 'शाब्द बोध लक्षणन्तु, शक्ति लक्षणान्यतर संबंधेन पदजन्य पदार्थस्मृतित्वावच्छिन्न कारणता निरूपित कार्य्यत्वम् शाब्दबोध प्रक्रियाचेत्थमवगन्तव्या—प्रथमं गवादि पदानां गवादौ 'गवादिर्गवादि पद शक्यो लक्ष्यो वा' इति सम्बन्ध ज्ञाने, ततः कालान्तरे, केनचित् 'गामानयत्वम् इत्युक्ते गवादि पदेभ्य एक 'सम्बन्धि ज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्, इति न्यायेन गवादीनर्थान् स्मरति। आकांक्षादीन् जानतस्तदनन्तरं 'गोकर्मकानयनानुकूल कृतिमांस्त्वम्, इति शाब्दबुद्धिर्जायते। सच्छाब्दबोधो वैयाकरणानां

ज्ञानऔर कर्त्ता अथवा ज्ञान भी शाब्द बोधमें कारणहै। (प्रं०) शक्ति किसे कहते हैं। (उ०) पट शब्दसे सूतका बना हुआ कपड़ा जानना और पर्वत शब्द से पथरेली ऊंची भूमि जाननी नदी शब्दसे जल की धारा का प्रवाह जानना इत्यादि प्राचीन संकेतको शक्ति कहते

मते धात्वर्थ मुख्य विशेष्यकः। नैयायिकास्तु प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्यक एवन्यायात्, इति प्राहुः। तत्राद्योयथा—'चैत्रेण सुप्यते' इत्यादौ 'चैत्रकर्तृकः स्वापः' इति क्रिया मुख्य विशेष्यकः सर्वतन्त्र सिद्धोबोधः। 'पश्य मृगोधावति' इत्यादौ मृगाभिन्न कर्तृकं धावनं पश्य' इति क्रिया मुख्य विशेष्य को बोधः। न्यायनये यथा—'घटो न भवति पटः' इतिवाक्यात्' घटभेदवान् पटः इतिप्रथमान्तमुख्य विशेष्यकोबोधः। तत्रनैयायिकानामिदमाकूतम्। "प्रयातिपुरुषस्त स्य चरणावभिवादयेत्।" अत्र पुरुषकर्तृको वर्तमान कालिक उत्तर देशसंयोगानुकूलो व्यापार इति क्रियामुख्य विशेष्यकः शाब्दबोधः शाब्दिकमते भवति। तत्र सर्वादीनामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्व नियमेन तच्छब्देन प्रयाण बोधो भविष्यति, इतितस्यसंबन्धि चरणा वभिवादयेदित्यसङ्गतिर्भवेदतस्तार्किकैर्वर्तमान कालिक प्रयाणकर्त्ता पुरुष इति प्रथमान्तमुख्य विशेष्यकः शाब्द बोधःस्वीक्रियते। आ- ख्यातस्यकर्तरि कर्मणि च शक्ति रिति शाब्दिकाः। कृतौशक्तिरिति नैयायिकास्तत्र तेषामयमाशयो यदिकर्तरिशक्तिः स्वीक्रियेततर्हि श- क्यतावच्छेदकं कृतिर्भविष्यति सा पुरुषभेदाद्भिन्नेति गौरवं स्यात् यदिनामकृतौ मन्येत तदा शक्यतावच्छेदकं कृतित्वंतस्य च जाति रूपत्वेनैक्यमिति लाघवं यत्र पुनः,रथो गच्छतीत्यादौ कृतेर्बाधस्तत्र व्यापारादौलक्षणा, इत्याहुः। अतस्तदनुसृत्यैवकैश्चिच्छक्यमति

है इसी शक्ति के द्वारा जहां पद से अर्थ का ज्ञान हो, तो उस पद को शक्त और अर्थ को शक्य कहते हैं, (शं०) शाब्द बोध किसे कहते हैं (उ०) पद ज्ञान हो कारण जिस का ऐसे ज्ञान को शाब्द बोध

वैयाकरणशाब्दबोध प्रकाराः प्रदर्श्यन्ते तथाहि कर्त्राख्यातस्थले (चैत्रःपचति) 'पाकानुकूलकृतिमांश्चैत्रः' इतिशाब्दबोधः। कर्मणि (चैत्रेणपच्यतेतण्डुलइत्यादौ' तृतीयाया आश्रयत्वमर्थः फलावच्छिन्नव्यापारोधात्वर्थःप्राधान्यात् बलाच्च कृतेर्लाभः तथा च—चैत्रनिष्ठकृतिजन्यपाकजन्यफलशाली तण्डुलः, इत्यन्वयबोधः। देवदत्तो ग्रामंगच्छति इत्यत्र—द्वितीयाया अर्थःकर्मत्वम् धातोरर्थोगमनम् जनकत्वं संसर्गमर्यादयालभ्यम्, लटोवर्तमानत्वम् आख्यातस्यकृतिः तत्संबन्धः संसर्गमर्यादयालभ्यः। एकवचनाद्युपस्थापितमेकत्वादि सर्वत्र प्रथमान्तपदोपस्थापितेऽन्वेति। ,एवंच—ग्रामकर्मकगमन जनक वर्तमानकृतिमान्,एकत्वविशिष्टो देवदत्तइत्यन्वयबोध- रथोगच्छति' इत्यत्र—गमनजनकवर्तमानव्यापारवान् रथइति बोधः,भावप्रत्ययेतु, 'देवदत्तेन सुप्यते' इत्यस्य 'देवदत्तवृत्तिकृति जन्यःस्वापः'॥

सच शाब्द बोधोद्विविधः, यथार्थोऽयथार्थश्च। तत्राद्यः शाब्द प्रमा साच यथा 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इत्यादि वाक्यार्थ गोचर यथार्थ ज्ञानम्। द्वितीयः 'वह्निनासिञ्चति' इत्याद्ययोग्य वाक्य जन्यः शाब्दबोधः। द्विविधोऽपि पुनर्द्विविधः, भेदान्वय विषयकः, अभेदान्वय विषयकश्च। तत्राद्यो 'राज्ञः पुरुष' इत्यादि वाक्यजन्यः द्वितीयोयथानीलोघटइतिवाक्यजन्यःअभेदान्वय बोधं प्रति, समान विभक्तिलिङ्गवचनकत्व प्रयोजकम् इति सामान्यनियमोनिश्चेतव्यः।

कहते हैं उसी को ही वाक्यार्थ (४) ज्ञान भी कहते ह जैसे 'गामानय' इति, इस वाक्य से ऐसा शाब्द बोध होगा कि 'गोकर्मकानयनानुकूल कृतिमास्त्वम्, एवं चैत्रः पचति देवदत्तो ग्रामं गच्छति इत्यादि स्थल में भी जान लेना। ८१।

लक्षणाशक्य संबन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः ॥

टी०—अब लक्षणा को कहते हैं "लक्षणा" इत्यादि ग्रन्थ से शक्य अर्थ के सम्बन्धको लक्षणा कहते हैं और वह जहां वक्ता का तात्पर्य वाच्यार्थ में न बने वहां पर हुआ करती है और उस

---

(२) 'अस्मात्पदादयमर्थोबोद्धव्यः' इत्याकारिकेश्वरेच्छैव शक्तिः। नत्वास्तुईश्वरेच्छैवनशक्तिः किन्तु, अभियुक्तसंकेतमात्रं शक्तिः, इतिलेन आधुनिक संकेतितेपिशक्तिरस्ति, इतिवदन्ति। तथाच' न्यायभाष्ये-श्यक पुनरय समयः, अस्यशब्दस्येदमर्थजातमभिधेयमित्यभिधानाभिधेयनियमनियोग'तस्मिन्नुपयुक्ते शब्दार्थसम्प्रत्ययो भवति, २।१।५४। इति। अत्रचमतभेदः जात्याकृतिविशिष्ट-व्यक्तौ शक्तिः, सम्प्रदायविदोनैयायिकाः प्राहु। जात्याकृतिव्यक्तिषु-तिस्टषुशक्तिः, (शक्तित्रयम) इतिमाण्डिका मन्यन्ते। आकृतावेवशक्तिः, इतिपतञ्जलि प्रभृतय आहु'। जातावेवशक्तिर्व्यक्तिलाभस्त्वाक्षेपात्, इतिप्राभाकराः। 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः इतितुन्यायदर्शने २।२।६८॥

(१)न्यायनये—शक्यवच संबन्धोलक्षणा। तथाहि—लाक्षणिक पदं("यथा गङ्गायांघोष" इत्यत्र गङ्गापदम) तस्य शक्यः (प्रवाह) तत्संबन्ध. संयोग समवायादिर्यथायथं ग्राह्यः। अथ संबन्धः शक्तिरूपितोऽथलिप्तः' शब्दबोधप्रयोजकः शक्यार्थयोः संबन्धः॥

लक्षणा वृत्तिसे प्रतीत होने वाला जो अर्थ उसको लक्ष्य कहते हैं यह लक्षणा भी कई एक भेद की है परन्तु यहां दिग् दर्शन कराते हैं जो शक्य अर्थ को छोड़कर लक्ष्य अर्थ को जनावे उसे (२) जहल्लक्षणा (जहत्स्वार्था) कहते हैं। जैसा कि किसी पुरुषने कहा (देवदत्त मंडप में बैठा हवन करता है) इस वाक्य में जो मंडप शब्द है, इसका शक्य अर्थ मण्ड (चावलों की पीछ) पीने वाला है परन्तु इस अर्थ से वक्ता का तात्पर्य नहीं सिद्ध होता; क्योंकि माण्डपीने वाला कोई मनुष्य वा पशु ही होसकता है और उसजीव में बैठकर हवन करना सर्वथा विरुद्ध है इसलिये शक्यअर्थ का परित्याग करके लक्षणा द्वारा मण्डप शब्द के गृहका बोध कराता है, इसीसे यहां जहल्लक्षणा है। यहां मण्डपपद का-ल्पनिक है; और यज्ञकागृह लक्ष्यअर्थ है, जहां शक्य अर्थके साथही लक्ष्य अर्थ भी जानाजावे वहां अजहल्लक्षणा होती है जैसा (शोण दौड़ता है) यहां पर शोण पदकी शक्ति रक्त रूपमें है उसमें धावन क्रियारूप तात्पर्य सिद्ध नहीं होसकता इस लिये शोणपद लक्षणा द्वारा शोणगुण विशिष्ट अश्वादि का बोधक है ॥

---

(२) अत्र अन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम्, इतिप्राञ्च.प्राहुः तात्पर्यानुपपत्तिरेव सर्वत्र लक्षणाबीजम्, इतिनव्याजगदुः ॥

(३) लक्ष्यतावच्छेदक रूपेणलक्ष्यमात्र बोधप्रयोजिका जहल्लक्षणा। यथा निरुक्त निदर्शनेगङ्गापद शक्यप्रवाह संबन्धस्यतीरेऽस्त्वात् तादृशसंबन्धरूपलक्षणाज्ञानाद् गङ्गापदात्तीरोपस्थितिः॥

(४) लक्ष्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यशक्योभयबोधप्रयोजिका, अजहल्लक्षणा यथा—काकेभ्योदधिरक्ष्यताम्, इत्यत्रकाकपदस्यदध्युपघातके लक्षणालक्ष्यतावच्छेदकं दध्युपघातकत्व तेनरूपेणदध्युपघातकानां सर्वेषां काकबिडालादीनां शक्याशक्यानांबोधइति।

आसत्तियोग्यताकांक्षा तात्पर्य्य ज्ञान मिष्यते॥८२॥
कारणं--

टी०—आसत्तिरित्यादि । आसत्तिज्ञान, योग्यताज्ञान, आकांक्षाज्ञान, और तात्पर्य्यज्ञान ये चारों भी शाब्द बोध में कारण हैं, इसलिये इन चारों के स्वरूप को दिखाते हैं "सन्निधानं इत्यादि ग्रन्थ से॥ ८२ ॥

सन्निधानंतु पदस्या[1]सत्ति रुच्यते ।
पदार्थे तत्र तद्वत्ता[2]योग्यता परिकीर्तिता ॥८३॥

टी०—पदों का बिना व्यवधान के जो उच्चारण करना इसे आसत्ति कहते हैं, इसका यह फल है कि जिस मनुष्य स्वामी ने प्रातः काल उठ कर कहा "अरे भृत्य' फिर मध्यान्ह को कहा "गोको" उसके पीछे सन्ध्या के समय कहा "ले आ" और आधी रात को कहा कि "दंड से" तीन से स्थल में भृत्य कुछ भी नहीं समझेगा क्योंकि पूर्वोक्त आसत्ति नही है किन्तु दो २ प्रहर के अनन्तर एक एक पद कहा है इसमें आसत्तिका ज्ञान शाब्द बोध में अवश्य कारण मानना चाहिये तो जहां स्वामी ने भृत्य से कहा कि "हे भृत्य गो को ले आ दंड से" इस स्थान में भृत्य सुनते ही हाथ में दंड लेकर शीघ्र गो को ले आवेगा ।

अब योग्यता का स्वरूप कहते हैं—

एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का यथार्थ सम्बन्ध योग्यता कहाता है इसका ज्ञान भी शाब्द बोध में कारण है, जिस से पानी

(१) पदानामव्यवधानं सन्निधिः ।
(२) एक पदार्थेऽपर पदार्थ संसर्गोयोग्यता ।

छिड़कता है या दूध छिड़कता है यह वाक्य प्रमाण है। और आग छिड़कता है, या "पत्थर छिड़कता है" यह वाक्य प्रमाण नहीं है क्योंकि यहां पर योग्यता ज्ञानका अभाव है इस लिये यहां बोध भी नहीं होता अर्थात् सेचन क्रिया को जल में ही योग्यता है वन्हि में नहीं है, इस लिये शाब्द बोध नहीं होता ॥ ८३ ॥

यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेत् ।
वक्तुरिच्छातुतात्पर्यं परि कीर्तितम् ॥ ८४ ॥

टी०—जिस पद से विना जिस पद में (अननुभावकता) शाब्द बोध उत्पन्न करने का सामर्थ्य न हो उस पद की उस पद के साथ आकांक्षा होती है जैसाकि किसी ने कहा "दही" अब यहां केवल दही शब्द से सुनने वाला कुछ नहीं जान सकता, कि दही-

---

(१) एक पदार्थ विरह सहकृता परपदार्थ निष्ठानुभव जनकता भावत्वमाकांक्षाया लक्षणम् ॥

(२) विवक्षात्वं तात्पर्यस्य लक्षणम् । 'इदमेतस्मिन्नर्थेऽन्वयंमस्यायतु' इति प्रयोक्तुरिच्छावा । तदर्थश्च—'एतत्पदमेतेन पदेन सह सम्भूयान्वय बोध जनयतु' इति । अत्र प्रयोक्तातु अभिसंधापयितुमात्रम्, नतु वक्तैव श्रोतुं रश्लोका क्यात्तेः । शुक वाक्येभगवदिच्छैव गति रिति । अत्र मत भेदाः—अपरे शाब्दबोधं प्रति तात्पर्य ज्ञानस्य कारणत्वं नास्त्येव, इत्याहुः । केचित्तुभः सैन्धवमानय, इत्यादौ नानार्थ स्थले एव तात्पर्य संशयादेः संभवेन तत्रस्यशाब्द बोध एव तात्पर्य निश्चयोहतुः, नतु 'घटमानय इत्यादौ शाब्द बोध हेतुःइत्याहुः । परेतुतथापि (घटादिशाब्दबोधस्यलेऽपि) 'घटपदं कुम्भपरम्, आहोस्वित्पटपरंवा, इति संशयेघटशाब्द बोधाभावात् सर्वत्र तात्पर्य निश्चयः कारणम्,इत्याहुःइति शम् ।

से भाऊं, या खा जाऊं, या दही को ले जाऊं और जब कहा कि "दही को ले आ" तो सुनने वाला शीघ्र ही दही ले आता है इस से प्रतीत हुआ कि "ले आ" कहे बिना केवल दही शब्द से कुछ यथार्थबोध नहीं होता यही दही पदको "ले आ" पदकी आकांक्षा है तो सिद्ध हुआ कि एक पद से बिना दूसरे पद में अर्थ देने की सामर्थ्य न रहनी यही आकांक्षा है। और वक्ता की इच्छा तात्पर्य कहाती है यदि शब्द बोध में तात्पर्य ज्ञान को कारण न माना जाय तो "सैन्धव मानय" इत्यादि स्थानों में कहीं यात्रा प्रसङ्ग में 'अश्व' का तथा कहीं भोजनादि प्रसङ्ग में 'लवण' का बोध जो होता है (अर्थात् तत्तत् प्रसङ्ग में विलक्षण बोध जो होता है) वह नहीं होना चाहिये। आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा और तात्पर्य इन चारों का ज्ञान जिस वाक्य में हो वही वाक्य प्रमाण होता है और पदों के समूह को वाक्य कहते हैं ॥ ८४ ॥

इति कारिकावली रहस्य प्रकाशे शब्द परिच्छेदः।

अथमनो निरूपणम्

साक्षात्कारे सुखादीनांकरणंमन[१]उच्यते॥
अयोगपद्याज्-ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते ।८५।

टी०—अब मन का निरूपण करते हैं 'साक्षात्कारे' इत्यादि ग्रन्थसे—सुखदुःखादि के प्रत्यक्ष में (करण) साधन को मन कहते

---

(१) स्पर्श रहितत्वेसति क्रियावत्त्वं मनसोलक्षणम्। अथ पाश्चात्यैरभिधीयते। 'युगपज् ज्ञानानुपपत्तिर्मनसोलिङ्गम्' इति

है अर्थात् जिस द्वारा सुखदुःखादि का प्रत्यात्मक ज्ञान हो उसे मन कहते हैं परन्तु मनुष्य का मन जबएक वस्तुमें होता है तो दूसरे पदार्थ को कभी नहीं समझता, इससे प्रतीत होता है कि मन अणुपरिमाण है अर्थात् परमाणुजैतुल्य है, यदिमन बड़ा हो तो एक ओर अनुमेयको दूसरी ओर ज्ञानसे छूके एक काल में अनेक ज्ञान उत्पन्न करादेवे क्योंकि इस बात को पूर्व कहचुके हैं कि आत्मा मन के साथ जुड़ता है मन इन्द्रिय के साथ और इन्द्रियवस्तुके साथ जबजुड़ता है तब प्रत्यक्ष होता है। (प्र०) जब कभी महा दीर्घ जलेबी अथवा कोई वस्तु खाने लगें तब उसके रूप रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श इन सबका ज्ञान एक काल में देखते हैं तो मन सूक्ष्म कैसे मानें। (उ०) मनमें बहुत वेग है अतः झटितिही एक इन्द्रिय के साथ जुड़कर फिर शीघ्र दूसरे से जुड़ता है अतः यह क्रम से ही ज्ञान उत्पन्न होते हैं परन्तु क्रमको अति सूक्ष्म होने से प्रतीति नहीं होती जैसे पानका [illegible] ले और उसको जोड़कर उनमें सूची प्रवेश किया वहां ऐसा प्रतीत होगा

एककाले ज्ञानानामनुत्पत्तिर्यतः सच्वधर्मो मनसोलिङ्गम्। जीवात्मनोयुगपन्नानाज्ञानधारणशक्तिर्वाभाविकीकाचिदस्ति विद्यते तर्हि विशिष्टएवात्मामनःपदेनव्यवह्रियते, इत्यादि। वेदान्तिनस्तु सादि द्रव्यत्वेन मनसोऽपिसावयवत्वंसादित्वञ्चमन्यन्ते "तन्मनोऽसृजत" इतिश्रुतिसिद्धम्। अत एवतन्मध्यमपरिमाणवत् न च तस्य देहपरिमाणपरिमितत्वे युगपत्सर्वेन्द्रिय संबन्धसम्भवाद्युगपन्नानाज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गइतिवाच्यं, एकेन्द्रियेणैकमेवज्ञानंजन्यते, इति नियमस्तावद्द्वयोः समानः। अन्यथायुगपच्चक्षुषा नद्वयोरुत्पत्तिः किंनस्यात्। चक्षुष्यन्यथानुपपत्त्या त्वङ्मनः संयोगस्य ज्ञानसाध

कि सब में एक कालमें ही सूचीका प्रवेश हुआ है परन्तु वस्तुतः जब प्रथम पत्र में सूची का प्रवेश हुआ है उसी समय द्वितीय पत्र में सूची का प्रवेश नहीं हुआ ऐसा यहां भी समझो वह मन एक २ आत्मा के लिये भिन्न २ है और नित्य है यदि यदि सर्व आत्माओं में एकही मन माना जाए तो जब एक को ज्ञान हुआ तब दूसरे को न होना चाहिये क्योंकि वह तो पूर्वोक्त युक्ति से अणु सिद्ध है तो एक काल में सकल इन्द्रियों के साथ उसका संयोग नहीं होसकता ॥ ८५ ॥

इति द्रव्य पदार्थ व्याख्या ॥

कारणस्यैकत्वस्याभ्युपगमात् । एवमनतिभिन्न स्वल्पमनःसंयमस्य गुडस्य युगपद्रसपर्योत्पन्नभ्रमस्तत्रापि दीर्घशष्कुलि भक्षिरन्ते, अत्र समाधौ यताच्च नामन्यायमारूपपश्चात्मनोनैविति, अस्माभिरनुत्थाप्यःयुक्ति विरहोगस्युक्तिमनुध्योदास्यते समाधौ । अत्रमतभेदाःकेचित् तन्मनोविभु, इतिमीमांसकाः तत्पक्षम् । तस्यविभुत्वाङ्गीकारेतु आत्मनोमनसा संयोगस्य (ज्ञानकारणस्य) अनुपपत्तिरितिद्रष्टव्यम् अभाव आत्माविभुरितिसिद्धान्तः तथाच मनसोऽपिविभुत्वाङ्गीकारे विभुद्वयस्यापि संयोगापत्तिः । न च, 'विभुद्वयसंयोगोऽस्त, इति वाच्यम, तादृशसंयोगस्य सर्वदा सर्वत्र सत्त्वप्राप्तौ सुषुप्तिरेवानुपपन्नास्यात् । अतो 'मनोऽण्वेव' इतिनैयायिकाः । 'वायुरेवमन,' इति केचित् । अहङ्कार कार्य्यमितिसांख्याः । तच्चमनो न प्रत्यक्षम, अपितु अनुमेयमेव । तथाहि सुखदुःखादि साक्षात्कारःचक्षुरादि व्यतिरिक्त करणसाध्यः, जन्यसत्त्वेपिचक्षुरादिषु जायमानत्वात्, घटवत् इतियच्चसुखादिसाक्षात्कारकरणम् तन्मनः मन्यतेऽनेनेति (करणेऽसुन्) मन इति ॥

कारिकावली रहस्य प्रकाश सहिता।

अवगुणों का निरूपण करते हैं।

अथद्रव्याश्रिताज्ञेया निर्गुणानिष्क्रिया गुणाः[१]॥
रूपंरसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम्। ८६।
द्रवो गुरुत्वं स्नेहश्च वेगो[२]मूर्तगुणाअमी॥

टी०—"अथेति" जो सर्वदा द्रव्यमात्राश्रितहों निर्गुण और निष्क्रिय हों उन्हें गुण जानना चाहिये, अब 'मिले हुए गुणों की भिन्न २ कई संज्ञा' जो ग्रन्थ कारोंने निर्णीत की है उन्हें दिखाते हैं जैसे रूप, रस, स्पर्श गन्ध, परत्व, अपरत्व, ॥ ८६ ॥ द्रवत्व, गुरुत्व, स्नेह, तथा वेग, येदश मूर्तगुण कहाते हैं, अर्थात् इन दशों में से कोई एक भी विभुओं में नहीं रहता॥

धर्माधर्मौभावनाच शब्दो बुद्ध्यादयोऽपिच।८७।
एते[३]ऽमूर्तगुणाःसर्वे विद्वद्भिः परिकीर्तिताः

टी०—धर्म अधर्म, भावनारूप संस्कार, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, यत्न, इन दशों को बुद्धि मान् लोगोंने अमूर्तगुण कहा है॥८७॥

संख्यादयो विभागान्ता उभयेषां गुणामताः ८८

(१ द्रव्य कर्म भिन्नत्वे सति सामान्यवत्त्वं गुणस्य लक्षणम् स च गुणो मेधाविज्ञानां वैशेषिकाणाञ्च मते चतुर्विंशति संख्या

टी०—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, तथा विभाग ये पांच गुण मूर्तों और अमूर्तों के अर्थात् दोनों के मान हैं ॥ ८८ ॥

संयोगश्च विभागश्च संख्या द्वित्वादिकास्तथा ।
द्विपृथक्त्वादयस्तद्वदेतेऽनेकाश्रितागुणाः ॥ ८९ ॥

टी०—संयोग, विभाग, द्वित्वादिसंख्या, द्विपृथक्त्व आदि यह गुण अनेक आश्रित हैं अर्थात् केवल एकमें यह नहीं रहते ॥८९॥

अतः शेषा गुणाः सर्वेमता एकैकवृत्तयः ॥

टी०—इन से भिन्न और सर्व ही गुण एक एक में ही रहते हैं। अर्थात् रूप रस गन्ध स्पर्शादि सब ही एक एक द्रव्य में रहते हैं ।

बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताःस्नेहः सांसिद्धिकोद्रवः९०

को द्रव्य निष्ठः पदार्थ विषयः। समवाय निराकरणेन द्रव्या भिन्न एवेति साख्या वदान्तिनश्च मन्यन्ते। अकारः उकारः, मोक्षा रश्चैतेत्रयोगुणा इतिमाण्डिक्या' सत्त्व, रजः,तमश्चैते द्रव्यात्मक त्रयोगुणा इति साख्या' । आनन्दादयोऽपिगुणा इतिवेदान्तिनः शमदमतितिक्षादयो गुणाइतियोगिन । श्लेषादयो दश, इति साहित्यविदः। इत्यलमनल्पेन ।(२) विभुवृत्ति संख्यादिपञ्चक भिन्न गुणत्वम् मूर्तगुणाना लक्षणम्। (३) मूर्तावृत्ति संख्यादि पञ्चक भिन्न गुणत्वम् अमूर्त गुणानालक्षणम् ॥

(१) एकत्वानवच्छिन्नवृत्तिक गुणत्वम्—अनेकाश्रित गुणानां लक्षणम्।

(२) एकत्वावच्छिन्न वृत्तिक गुणत्वम्—एक मात्र वृत्ति गुणानां लक्षणम्।

स्थितिस्थापक इत्येते स्युः कारणगुणोद्भवाः॥

टी०—अपाकजरूप, अपाकजरस, अपाकजगन्ध, अपाकज स्पर्श और अपाकजद्रवत्व, स्नेह, वेगाख्य संस्कार, गुरुत्व, एक पृथक्त्व, परिमाण ॥ ८५ ॥ स्थितिस्थापक संस्कार ये एकादश गुण कारणगुणोत्पन्न हैं अर्थात कारणों के गुणोंसे कार्यों में उत्पन्न होते हैं।

संयोगश्च विभागश्चवेगश्चैतेतु कर्मजाः ॥९६॥

टी०—संयोग विभाग और वेगाख्य संस्कार ये तीनों गुण कर्मज हैं अर्थात् क्रिया से उत्पन्न होते हैं ॥ ८६ ॥

स्पर्शान्त परिमाणैकपृथक्त्वं स्नेहशब्दके भवेद समवायित्व ॥

टी०—रूप,रस, गन्ध,स्पर्श, परिमाण, एक पृथक्त्व, स्नेह शब्द इन में असमवायिकारणत्व रहता है,अर्थात् इन की गुणान्तर ज्ञान से भिन्नों के प्रति नियम से असमवायि कारणता रहती है, ज्ञानकी प्रतिती इन को भी विषय विधया निमित्त कारणताही है यहा पर स्पर्श पर्यन्त ग्रहण करना और "एकपृथक्त्व" यहां तद्प्रत्यय का प्रत्येक के साथ अन्वय होने से एकत्व और पृथक्त्वमयं जानना और पृथक्त्व से भी एक पृथक्त्व यहा अभीष्ट है।

अथ वैशेषिक गुणे ॥ ९७ ॥ आत्मनः स्यान्निमित्तत्वं ॥

टी०—जीवात्माके विशेषगुणों में (अर्थात बुद्धि सुख दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, धर्म, अधर्म, भावनाख्य संस्कार इन में

निमित्त कारणत्व रहता है जैसे; ज्ञान इच्छा की प्रति निमित्त कारण है ॥

उष्णस्पर्शगुरुत्वयोः ॥ वेगेऽपि च द्रवत्वे च सं योगादिद्वये तथा ॥९८ ॥ द्विधैवकारणत्वं स्यात्

टी०—उष्ण स्पर्श गुरुत्व वेगाख्यसंस्कार, द्रवत्व, संयोग तथा विभाग इन छः गुणों में ॥ ९८ ॥ दो २ कारणता अर्थात् असमवायि कारणता और निमित्त कारणता रहती है, जैसे कि उष्णस्पर्श कार्यगत उष्णस्पर्श का असमवायिकारण है और घटादि गत पाकजरूपादिकों में निमित्त कारण भी है एवं भेरी दण्ड संयोग शब्द में तो निमित्तकारण है परन्तु भेरी आकाश संयोग तो मात्र असमवायि कारण है ॥

अथ [1]प्रादेशिकोभवत् । वैशेषिको विभुगुणःसं- योगादि द्वयंतथा ॥९९ ॥

टी०—आकाश आदि विभुद्रव्यों को शब्द ज्ञानादि विशेषगुण संयोग तथा विभाग ये चारह गुण अव्याप्य वृत्ति हैं, अर्थात् ये जहां रहते हैं, वहां एक देश में ही रहते हैं, अपने आश्रय के सम्पूर्ण देशों में नहीं रहते ॥ ९९॥ यहां तक अनेक गुणों के एक २ साधर्म्य का निरूपण किया अब इससे आगे प्रत्यक्षगुणके साधर्म्य कहते हैं " चक्षुर्ग्राह्य " इत्यादि ग्रन्थ से ॥

चक्षुर्ग्राह्यं भवेद्रूपं द्रव्यादे रुपलम्भकं चक्षुषः सहकारिस्यात् ॥

---

(१)स्वाधिकरण वृत्तित्वात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वं प्रादेशिकत्वम्

टी०—चक्षु इन्द्रिय मात्र से जिसका ग्रहण हो और विशेष गुण हो उसे रूप कहते हैं यह रूप द्रव्यादिकों का उपलम्भक है अर्थात् जिसमें रहे चक्षुसे उसी का प्रत्यक्ष होता है और नेत्र इन्द्रिय का प्रत्यक्ष कराने में सहकारि कारण है, यह रूप है यह रूप है इस अनुगत प्रतीति से रूपत्व जाति प्रत्यक्ष सिद्ध है।

शुक्लादिकमनेकधा ॥ १०० ॥

टी०—यह रूप सात प्रकारों से विभक्त है, । यथा शुक्ल, नील, रक्त, पीत, हरित, कपिश और चित्र भेद से। (प्र०) सातवां (२) चित्र रूप क्यों मानते होनील पीत आदि का समुदाय ही तो चित्र है इनसे अतिरिक्त चित्र कोई नहीं किन्तु छही रूप कहने चाहिये। (उ०) पाच रङ्ग के वस्तु में कौन सा रूप मानोगे अव्याप्यवृत्ति गुणों में तो रूप परिगणित नहीं जो एक देश में अन्य और दूसरेमें अन्य मानने से निर्वाह हो जाय। यदितन्तुओंमें पृथक् २ रूपमाने पटमें कोई रूप न मानें तो नेत्रों से पटका प्रत्यक्ष नहीं हुआ चाहिये क्योंकि नेत्रों से उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होताहै, जिसमें रूप हो, इसलिये सातवां चित्र रूप अवश्य मानना चाहिये। इसी तरह रसादिक भी अव्याप्य वृत्ति नहीं हैं किन्तु रूपसे इतनी विलक्षणता है कि अनेक प्रकारके रसों वाले अवयव से उत्पन्न हुए अवयवीमें चित्र रस न होने पर भी कुछ क्षति नहीं है; क्योंकि चित्र रस की प्रतीति तो अवयवगत अनेक रसों से भी होसकती है ॥ १०० ॥

(१ चक्षुर्मात्र ग्राह्य जातिमत्त्वे सति गुणत्व रूपस्य लक्षणम् चक्षुग्रह प्रमाकारणमिति तर्क कौमुदी ॥

(२) के चित्त्वित्त रूप माहुर्नी कुर्वन्ति ॥

जलादि परमाणौ तन्नित्यमन्यत्सहेतुकम् ।

टी०—जल और आदि पद से तेज इनके परमाणुओं का रूप नित्य है और सब रूप अनित्य है अर्थात् कार्य्य रूप जल गत रूप और कार्य्य रूप तेजोगत रूप एवं पार्थिव पदार्थ मात्र में जो रूप है वे सर्वरूप "सहेतुक" जन्य हैं ॥

[1]रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा ॥१०१॥
सहकारी रसज्ञाया नित्यतादि च पूर्ववत् ॥

टी०—रसना इन्द्रिय से ग्रहण का योग्य जो गुण उसको रस कहते हैं यह रस मधुरादि भेद से अर्थात् मधुर, अम्ल लवण कटु कषाय और तिक्तभेद से अनेक अर्थात् छः प्रकार का है और रसनेन्द्रियका सहायक है । रस की नित्यता और अनित्यता पूर्व की (रूप) की नाईं जानो अर्थात् जलीय परमाणु का रस नित्य है अन्य सारे रस अनित्य हैं ॥

घ्राणग्राह्यो भवेद्[2] गन्धो घ्राणस्यैवोपकारकः ॥१०२

टी०—जिस का घ्राण इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो ऐसे गुण को गन्ध कहते हैं यह गन्ध घ्राणजन्य प्रत्यक्ष में "उपकारक" नाम सहायक है यहां उपकारक गन्ध घ्राणेन्द्रियवर्ती जानना इसी तरह चक्षुरादि निष्ठरूपादि समझना योग्य है ॥१०२॥

सौरभश्चासौरभश्च स द्वेधा परिकीर्तितः ।

(१) रसनमात्र ग्राह्य जाति मत्त्वं रसस्यलक्षणम् ।
(२) घ्राणमात्र ग्राह्यजातिमत्त्वं गन्धस्यलक्षणम् ।



टी०—यह गन्ध दो प्रकार का है, सुगन्ध और दुर्गन्ध परन्तु सभी गन्ध अनित्य हैं।

(१)स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यस्त्वच स्यादुपकारकः॥१०३

टी०—जिसे त्वक् से भिन्न कोई इन्द्रिय ग्रहण न करे और त्वक ग्रहण करे ऐसे विषय गुण को स्पर्श कहते हैं। और यह त्वाच प्रत्यक्ष में सहायक है परन्तु त्वक् से उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होगा जिस में उद्भूत स्पर्श होता है॥ १०३॥

अनुष्णाशीतशीतोष्ण भेदात्सत्रिविधोमतः।
काठिन्यादि क्षितावेव नित्यतादिचपूर्ववत् ।१०४।

टी०—यह स्पर्श तीन संज्ञाओं में विभक्त है यथा अनुष्णाशीत, शीत और उष्ण भेद से, इनमें से पृथिवी और वायु का तो अनुष्णाशीत है और जल का शीत और तेज का उष्ण है और यह स्पर्श काठिन्यादि धर्म वाला केवल पृथिवी में रहता है और इसको नित्यता अनित्यता पूर्व की (रूपादिक की) तरह जाननी अर्थात जलीय परमाणु तैजस परमाणु वायवीय परमाणु में स्पर्श नित्य है और सब स्पर्श अनित्य हैं॥ १०४॥

एतेषां पाकजत्वंतु क्षितौनान्यत्र कुत्रचित्।

टी०—इन चारों रूप रस गन्ध स्पर्शों का (पाकजत्व) तेज संयोग से उत्पन्न होना केवल पृथिवी में ही है अन्यत्र जलादिकों में नहीं है अतः ये सभी पृथिवी में अनित्य हैं और जल आदि में इनमें से जो रहते हैं, वह कहीं नित्य है और कहीं अनित्य है।

---

(१) त्वगिन्द्रियमात्र ग्राह्यजातिमत्त्वं स्पर्शस्यलक्षणम्॥

टी०—नैयायिकों के मतमें तो द्व्यणुकादि अवयवि में भी पाक इष्ट है इसका यह तात्पर्य है कि अवयवियों में छिद्र अवश्य होता है अतः तद्द्वारा वह्नि के सूक्ष्म अवयव प्रवेश करके बिना ही घट नाश के पाक कर देते हैं यदि ऐसा न माना जाय तो वैशेषिक मत में अनन्त अवयवि और फिर उनके नाश स्वीकार कल्पना में गौरव होगा और हमारे मत में तो वही यह घट है इस तरह की प्रत्यभिज्ञा भी हो सकती है वैशेषिक मत में नहीं होनी चाहिये ॥

गणनाव्यवहारे तु हेतुः[1]संख्याऽभिधीयते ।१०६।

टी०—गणना के व्यवहार में असाधारण कारण रूप जो गुण उसे संख्या कहते हैं, वह एकत्व से लेकर परार्द्ध पर्यन्त है "एकं दश शतञ्चैव सहस्रमयुतं तथा ॥ लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च । वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मश्च सागरः ॥ अन्त्यं मध्यं परार्द्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम् ॥ १ ॥ इस गणित विद्या के नियम से एक अंक के आगे "१००००००००००००००००००" सप्त दश शून्य लगाने से परार्द्ध संख्या बन जाती है ॥१०६॥

नित्येषु नित्यमेकत्वमनित्येऽनित्यमिष्यते ॥
द्वित्वादयः परार्द्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजा मताः ॥१०७

टी०—उनमें एकत्व स्वरूप संख्या नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य है और द्वित्व से परार्द्ध तक सभी संख्या अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है अतएव अनित्य है ॥ १०७ ॥

---

(१) तदुक्तम् "आहाववह्निनिक्षिप्तो घटः पाकाय सन्दधे पार्श्वेऽर्पिताङ्गस्पर्शा दृश्यतेऽस्य ततः ॥ १ ॥

अनेकाश्रयपर्याप्ता एतेतुपरिकीर्तिताः ।
अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषांनिरूपितः १०८॥

टी०—यह द्वित्वादि सभी संख्या अनेक आश्रयों में पर्याप्ति संबन्ध से रहने वाली हैं ऐसा बुद्धिमत् पुरुषों का कथन है और

किञ्च—दृश्यतेच घटेऽपिकर्मेन्द्रियग्राह्यानामपां वह्निः शीतस्पर्श ग्रहणमिति।

नैयायिकाः-षोडशपदार्थानुसारिन्यायज्ञाः । अत्र व्युत्पत्तिः "न्यायंवेत्त्यधीते वा' इति नैयायिकः ठक्प्रत्ययः। न्यायशास्त्रन्तु गौतममुनिप्रणीतं "प्रमाणप्रमेयसंशय प्रयोजनसिद्धान्तदृष्टान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा हेत्वाभासच्छलजाति निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" इत्याद्यारभ्य "हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः" इत्येतत्पर्यन्तं पञ्चाध्यायात्मकं सूत्रोपनिबद्धमिति। अतएवेदं कारिकावली नामकं प्रकरणन्तु वैशेषिकशास्त्ररीत्याज्ञातव्यं न्यायोक्तपदार्थानामवादर्शनात् प्रमाणचतुष्टयनिरूपणं यद्यपि गौतममतेनाप्यन्वधायि तथापि तत्र तस्य शौष्ट्यप्रदर्शने तात्पर्यं प्रमाणद्वयाङ्गीकारेत् प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य प्रत्यक्षमेवप्रमाणमिति पर्यवसन्नं स्यात्स्याच्च तेननास्तिक्य । पक्षपात इतीतः कारिकावल्या न्यायशास्त्राभिधानन्तु केवलं भ्रम विषसितमेवदर्शनशास्त्र परिशीलनजमतिवैशारद्यरिक्तस्वान्तानामितिज्ञेयम् ।, तदुक्तम्—"कणादेनच, समोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्। "गौतमेनतथान्यायं सांख्यञ्चकपिलेनवै" इत्यादि।

(२) एकत्वादि व्यवहारासाधारणकारणत्वेसति गुणत्वं संख्याया लक्षणम्।

अनेकाश्रयपर्याप्ता एतेतुपरिकीर्तिताः ।
अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषांनिरूपितः १०८॥

टी०—यह द्वित्वादि सभी संख्या अनेक आश्रयों में पर्याप्ति संबन्ध से रहने वाली हैं ऐसा बुद्धिमत् पुरुषों का कथन है और

किञ्च—इदयतेच पञ्चेऽपिकाशमेनिपक्षाणामपां वह्निः शीत स्पर्शं प्रत्यक्षमिति।

नैयायिकाः-षोडशपदार्थानुसारिन्यायज्ञाः । अत्र व्युत्पत्तिः "न्यायंवेत्त्यधीते वा' इति नैयायिकः ठक्प्रत्ययः। न्यायशास्त्रन्तु गोतममुनिप्रणीतं "प्रमाणप्रमेयसंशय प्रयोजनसिद्धान्तदृष्टान्ता वयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा हेत्वाभासच्छलजाति निग्रहस्था नानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" इत्याद्यारभ्य "हेत्वाभा-साश्च यथोक्ताः" इत्येतत्पर्यन्तं पञ्चाध्यायात्मकं सूत्रोपनिब द्धमिति। अतएवेदं कारिकावली नामकं प्रकरणन्तु वैशेषिकशास्त्र-रीत्याऽऽरब्धं न्यायोक्तपदार्थानामवादर्शनात् प्रमाणचतुष्टयनि-रूपणं यद्यपि गोतममतेनाप्यधायि तथापि तत्र तस्य सौष्ठव्य प्रदर्शने तात्पर्यं प्रमाणद्वयाङ्गीकारेतु प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य प्रत्यक्षमेवप्रमाणमिति पर्यवसन्नं स्यात्स्याच्च तेननास्तिक्य। पक्ष-पात इतीतः कारिकावल्या न्यायशास्त्राभिधानन्तु केवलं श्रम विक सितमेवदर्शनशास्त्र परिशीलनजमतिवैशारद्यरिक्तस्वान्तानामिति-ज्ञेयम्।, तदुक्तम्—"कणादेनच संप्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्। "गोतमेनतथान्यायं सांख्यञ्चकपिलेनवै" इत्यादि।

(२) एकत्वादि व्यवहारासाधारणकारणत्वेसति गुणत्वं सं-ख्याया लक्षणम्।

अपेक्षा बुद्धि के नाश से इनका भी (अर्थात् द्वित्वादिका भी) नाश होता है ॥ १०८ ॥

अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षा बुद्धिरुच्यते ॥

टी०—"यह एक है यह एक है" इस तरह अनेक पदार्थों में एकत्व अवगाहन करने वाली बुद्धिको अपेक्षा बुद्धि कहते हैं अर्थात् बहुत पदार्थों को अलग १ एक २ गिनको, अपेक्षा बुद्धि कहते हैं। और इसमें कन्दलीकार का तो यह कथन है कि जिस स्थलमें एक त्व ज्ञान नियम से नहीं होता उस स्थान में द्वित्वादि भिन्न बहुत्व संख्याकी उत्पत्ति होती है। जैसे सेना या वन आदिमें एकत्वज्ञान अनियत है अतः वहां पर बहुत्व संख्या की उत्पत्ति है ॥

परिमाणंभवेन्मान व्यवहारस्य कारणम् ॥१०९॥

---

(१) मानेकत्वसमूहालम्बनरूपाबुद्धिरपेक्षाबुद्धिः, अनेकैकत्वबुद्धिर्या अनेकानिच तान्येकत्वानि तेषांबुद्धिरितिविग्रहः। अपेक्षा बुद्धेरिच्छादि जन्यत्वं नातीत्यवश्यंमन्तव्यम्। अन्यथा तेनैव तरया ज्ञायात् अन्यथयावश्यायित्वमेवनस्यात् इतिकेचित् (२)मान-व्यवहारासाधारणकारणत्वं परिमाणस्यलक्षणम् मानव्यवहारश्च, हस्तमितमित्यादि व्यवहारः अणुमहद्दीर्घादिव्यवहारः। चतुर्विध मपि प्रत्येकं परम्, मध्यमं चेति। तत्र परमाणुत्वह्रस्वत्वे पर-माणुमनसोस्तिष्ठतः। मध्यमाणुत्वह्रस्वत्वे द्व्यणुके तिष्ठतः। पर-ममहत्त्व दीर्घत्वे गगनादौ। मध्यममहत्त्वदीर्घत्वे घटादौतिष्ठतः आचार्यावेदान्तिनश्च, अणुत्वमहत्त्वे द्वे एवपरिमाणेमनुधर्मौ, इत्याहुः। (पं०) द्रव्यादन्यत्रैवपरिमाणंनिमन्यात् द्रव्यामतीतो मन् प्रत्ययो भावात्। (द०) नैवं द्रव्याद्द्रव्यान्तरेऽपि तत्परिमाण विशेषस्यावश्यकत्वात्। अतएव महानत्वबुद्धिर्भावान्तस्यादस्यते० इति।

अणुदीर्घंमहद्ध्रस्व मितितद्भेदईरितः ॥
अनित्येतदनित्यंस्या न्नित्येनित्यमुदाहृतम् ११०॥
संख्यातःपरिमाणाच्च प्रचयादपिजायते ॥
अनित्यं—

टी०—जिस गुणके द्वारा वस्तुको मापें उस गुणका 'परिमाण' कहते हैं ॥ १०९ ॥

यह परिमाण चार प्रकार का है जैसे अणु, दीर्घ महत् और ह्रस्व अर्थात् छोटा, लंबा, भारी हलका। यह परिमाण नित्य में नित्य और अनित्य में अनित्य होता है ॥ ११० ॥ अनित्य परिमाण की तीन कारणों से उत्पत्ति होती है जैसे संख्या से परिमाण से और प्रचय से ॥

द्व्यणुकादौतुसंख्याजन्यमुदाहृतम् ॥ १११ ॥

टी०—द्व्यणुकादिकों का परिमाण संख्या से उत्पन्न होता है अर्थात् परमाणुओं की द्वित्व संख्या से द्व्यणुक का परिमाण और द्व्यणुकों की त्रित्व संख्या से त्र्यणुक का परिमाण उत्पन्न होता है, क्योंकि परमाणु परिमाण और द्व्यणुक का परिमाण किसी का कारण नहीं है ॥ १११ ॥

परिमाणंघटादौतु पारमाणजमुच्यते ।
प्रचयःशिथिलाख्योयः संयोगस्तेन जन्यते॥११२॥
परिमाणं तूलकादौ नाशत्वाश्रयनाशतः

टी०—घटादिकों में जो परिमाण है यह परिमाणसे उत्पन्न हुआ है अर्थात् कपाल तन्तु आदि के परिमाण घट से पट का

परिमाण उत्पन्न होता है। प्रचय नाम शिथिल संयोग का है ११२॥ उस संयोग में (तूल) रुई आदिकों में जो परिमाण उत्पन्न होता है वह प्रचयजन्य है अर्थात् जब थोडी रुई को धुनियां धुनता है,तो वह रुई फूल कर बड़ी होजाती है, यह रुई का बड़ा परिमाण हुआ है यह प्रचयनाम शिथिल संयोग से ही उत्पन्न होता है। और परिमाण का नाश आश्रय के नाश से उत्पन्न होता है जैसे घट के नाश से घट के परिमाण का नाश होजाता है ॥

संख्यावत्तु [१]पृथक्त्वंस्यात्पृथक् प्रत्ययकारणम्११३॥

टी०—यह इससे पृथक् है इत्याकारक ज्ञान का कारण जो गुण उसे पृथक्त्व कहते हैं और इस का भी नित्यत्व अनित्यत्व आदि विचार संख्या की तरह है ॥ ११३ ॥

[२]अन्योन्याभावतो नास्य चरितार्थत्वमुच्यते ॥
अस्मात्पृथगिदंनेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा । ११४

टी०—इस पृथक् गुण की अन्योन्याभावसे चरितार्थता नहीं होती अर्थात् अन्योन्याभाव के मानने से ही इस का कार्य्य भी सिद्ध होजाय ऐसा नहीं होसकता क्योंकि "अयमस्मात् पृथक्" इस से "इदमिदं न" यह ज्ञान विलक्षण (भिन्न) है इस को स्पष्ट करता हूं। यद्यपि भेद और पृथक् एक से ही प्रतीत होते हैं तथापि यह घट नहीं है यह भेद की प्रतीति है और यह घट से पृथक् है, यह पृथक् की प्रतीति है इन प्रतीतियोंके भेद से पृथक्

(१) पृथग्व्यवहारासाधारणकारणं पृथक्त्वम्।

(२) नन्वयं, मोर्मासकास्तु पृथक्त्व मन्योऽभाव एव ना गुणा न्तरमित्यंगन्यन्तेति॥

नामी गुण मानते हैं जिस्त्र एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य को जैसे पृथक् कर लेते हैं, इस तरह गुणों को नहीं पृथक् कर सकते, परन्तु भेद गुणों का भी सिद्ध होसकता है,रूप जो है वह रस नहीं है इन युक्तियों से पृथक्त्व नामी गुण अभाव नहीं है ११४।

अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव [२]संयोगईरितः।
कीर्तित स्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतरकर्मजः।११५
तथोभयक्रियाजन्यो भवेत्संयोगजोऽपरः॥

टी०—अप्राप्त द्रव्यों के परस्पर मिलाप को संयोग कहते हैं वह संयोग तीन संज्ञाओं से विभक्त है जैसे अन्यतर कर्मज ११५। उभय कर्मज और तृतीय संयोगज अर्थात् संयोग दो पदार्थों का होता है, जहां दो में से क्रिया एक में हो दूसरेमें न हो वहां अन्यतर कर्मज संयोग होता है, जो दोनों की क्रिया से प्राप्ति उत्पन्न हो, उसे उभय कर्मज संयोग कहते हैं, और जहां एक देश के संयोगसे सारे पदार्थ का संयोग हो,उसे संयोगज कहते हैं इनके क्रमसे उदाहरण मूलकार "आदिमः" इत्यादि ग्रन्थसे स्वयं दिखाते हैं॥

आदिमःश्येनशैलादि संयोगःपरिकीर्तितः।११६।
मेषयोः सन्निपातो यः सद्वितीय उदाहृतः।
कपालतरुसंयोगात्संयोगस्तरुकुम्भयोः ११७
तृतीयः स्यात्।

---

(२) अप्राप्ति पूर्विका प्राप्तिः संयोगः। संयुक्त व्यवहारा साधारणकारणत्वं वा। 'असाधारणत्व' विशेषणेन साधारणकारण कालादिव्यावृत्तिः। अयञ्चानित्यएव विभुद्वयसंयोगानङ्गीकारात्।

टीका—इन त्रिविध संयोगों में प्रथम श्येन और शैल का अर्थात् पक्षी और पर्वत आदिकों का है क्योंकि पर्वत में क्रिया नहीं हुई केवल पक्षी आदि की क्रिया से पर्वत में संयोग होता है।११६। एवं परस्पर (मेष) मेढे आदिके (सन्निपात) टक्कर होना स्वरूप दूसरा संयोग है अर्थात् ऐसा संयोग दोनों की क्रिया होने से उत्पन्न होता है एवं कपाल वृक्ष के संयोगसे होनेवाला घट वृक्ष का संयोग तृतीय संयोग है॥

कर्मजोऽपि द्विधैवपरिकीर्तितः ।
अभिघातो नोदनं च शब्द हेतुरिहादिमः ११८
शब्दाहेतुर्द्वितीयः स्यात् ।

टी०—वह क्रिया जन्य संयोग फिर दो प्रकार का है। जैसे अभिघात और दूसरा नोदनाख्य जिस संयोगसे शब्द होय वह अभिघाताख्य संयोग है। ११८। एवं जिसके होने से शब्द न होय वह नोदनाख्य संयोग है॥

[1]विभागोऽपित्रिधाभवेत् । एककर्मोद्भवस्त्वाद्यो द्वयकर्मोद्भवोऽपरः । ११९ । विभागजस्तृतीयःस्यात्तृतीयोऽपिद्विधाभवेत् । हेतुमात्रविभागोत्थो हेत्व हेतुविभागजः १२० ॥

टी०—अब विभाग का निरूपण करते हैं "विभागोऽपि" इत्यादि ग्रन्थ से मिले हुए दो पदार्थों का अलग २ होना विभाग कहाता है, वह विभाग भी तीन प्रकारों से विभक्त है जैसे प्रथम एक की ही क्रिया से उत्पन्न होने वाला ।

---

१ विभक्त प्रत्ययासाधारणकारणत्वं विभागस्यलक्षणम् ।

दूसरा दोनों की क्रिया से उत्पन्न होता है और तृतीय विभाग से उत्पन्न होने वाला विभाग, वह विभागज विभाग भी दो प्रकार का है प्रथम कारण मात्र के विभाग से उत्पन्न होता है और द्वितीय कारण और अकारण उभय के विभाग से उत्पन्न होता है तीनों प्रकार संयोग की तरह जानने चाहिये अर्थात् श्येन शैलादि का विभाग अन्यतर क्रिया जन्य है तथा मेषद्वयका विभाग उभय क्रियाजन्य है, तीसरा विभागज विभाग एक देश के विभाग से जो सारे देश का विभाग होता है उसे विभागज विभाग कहते हैं जैसे पुस्तक से जुड़ी हुई अंगुली के अलग करने से सारा शरीर भी अलग होजाता है। दोनों भेदों के उदाहरण जैसे कपालों के परस्पर विभाग से जो अन्य देश के साथ कपालों के परस्पर विभाग से जो घट का भूतल से विभाग हो, उस हेत्व हेतु विभागज कहते हैं॥१२०॥

[1]परत्वं चापरत्वं च द्विविधं परिकीर्तितम्।
दैशिकं कालिकं चेति मूर्तएव तु दैशिकम् १२१॥

परत्वं मूर्तसंयोग भूयस्त्वज्ञानतो भवेत्॥
अपरत्वंतदल्पत्व बुद्धितः स्यादितीरितम्।१२२।

टी०—परत्वा परत्व का निरूपण करते हैं "परत्वमिति" देशगत कालगत भेदसे परत्व तथा अपरत्व दो प्रकारका है दैशिक का दूरत्व समीपत्वसे व्यवहार करते हैं और कालिक का ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व से व्यवहार होता है ये दोप्रकारके परत्व अपरत्व अपेक्षा के बिना कहीं नहीं होते और उनमें से दैशिक परत्व

१—परापर व्यवहारासाधारणकारणत्वं परत्वापरत्वयोर्लक्षणम्

परत्वतो मूर्त पदार्थ में ही रहते हैं ॥१२१॥ अधिक मूर्त संयोग ज्ञान से परत्व उत्पन्न होता है, अर्थात् जो वस्तु जिस वस्तु की अपेक्षा अधिक देशलंघ के स्थित हो, वह वस्तु उस वस्तु से पर कहाती है, जैसे लवपुर के मनुष्यों से जालंधर अमृतसर की अपेक्षा अधिक देश के अन्तर से स्थित है इसलिये लवपुर के मनुष्यों को अमृतसर से जालन्धर पर है । अवदैशिक अपरत्व को कहते हैं एवं मूर्त संयोगाल्पत्व ज्ञान से अपरत्व उत्पन्न होता है अर्थात् जिस वस्तु से जिसवस्तु में थोड़े देश का अन्तर हो, उस वस्तु से वह अपर कहाती है, जैसे उक्तउदाहरण में जालन्धर की अपेक्षा अमृतसर में थोड़े देश का अन्तर है, इसलिये लवपुर को जालन्धर की अपेक्षा अमृतसर अपर (समीप) है १२२ ॥

तयोर समवायी तु दिक्सं योगस्तदाश्रये ॥

टी०–उन दैशिक परत्वापरत्वों का असमवायि कारणदैशिक परत्वापरत्व आश्रय के साथ दिशा का संयोग स्वरूप ही है ॥

दिवाकरपरिस्पन्दभूयस्त्वज्ञानतोभवेत् ॥१२३॥
परत्वमपरत्वन्तु तदीयाल्पत्वबुद्धितः ।

टी०—एवं सूर्य्य क्रिया के भूयस्त्वज्ञान से कालिक परत्व उत्पन्न होता है अर्थात् जिसकी अपेक्षा से जो पदार्थ बहुत दिनों से उत्पन्न हुआ हो, जैसे पुत्र की अपेक्षा पिता बहुत दिनों से उत्पन्न हुआ है, इसलिये पुत्र से पिता बड़ा होता है॥ १२३ ॥ अब अपरत्व को कहते हैं तथा सूर्य्य क्रिया के अल्पीयस्त्व ज्ञान से कालिक अपरत्व उत्पन्न होता है अर्थात् जो वस्तु जिससे पीछे उत्पन्न हो, वह वस्तु उससे कनिष्ठ छोटी कहाती है, जैसे उक्त उदाहरण में पुत्र पिता से पीछे उत्पन्न होता है, इसलिये

१पता से पृथ कनिष्ठ (छोटा) कहाता है यह कालिक परत्वा परत्व केवलजन्य द्रव्यहो में होता है और पदार्थों में नहीं होता।

अत्रत्व समवायी स्यात्संयोगः कालपिण्डयोः॥१२४

टी०—इस कालिक परत्वापरत्व में काल(पिण्ड) जन्यद्रव्य के संयोग को असमवायि कारणता है॥१२४॥

अपेक्षा बुद्धि नाशेन नाशस्तेषां निरूपितः ॥[1]

टी०—उन कालिक तथा दैशिक परत्वापरत्वों का अपेक्षा बुद्धि के नाश से नाश होता है ॥

बुद्धेः प्रकारः प्रागेव प्रायशो विनिरूपितः ॥१२५॥

अथावशिष्टोऽप्यपरः प्रकारः परिदर्श्यते

अप्रमाच प्रमाचेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते ॥१२६॥

टी०—अब क्रम प्राप्त बुद्धि का निरूपण करते हुए "बुद्धिरिति" इत्यादि ग्रन्थ से बुद्धि का प्रकार तो हम बहुत सा पीछे प्रत्यक्ष निरूपण ही में कर चुके हैं॥१२५॥ परन्तु उसमें जो कुछ शेष है वह अब यहां दिखलाते हैं, अप्रमा (भ्रम) प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के भेद से ज्ञान (बुद्धि) दो प्रकार का होता है ॥१२६॥

तच्छून्ये तन्मतिर्यास्याद[1]प्रमासानिरूपिता।

तत्प्रपञ्चो विपर्यासः संशयोऽपि प्रकीर्तितः॥१२७॥

१—तदभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपित तन्निष्ठ प्रकारता निरूपित प्रकारिताशाल्यनुभवत्वमप्रमाया लक्षणम्। तथापि समूहालम्बनप्रमायामतिव्याप्तिवारणायैवनिष्ठत्वघटितरूपं मादर्यि। अस्या एव मिथ्या ज्ञानापरपर्यायोऽयथार्थं निश्चयो नामान्तर- मिति। दोषाच्चतस्याउत्पत्तिः।

टी०—भ्रमा का निरूपण करते हैं "तच्छून्ये" इत्यादि ग्रन्थ से—(तत्) रजतत्वादिधर्माभाववाली शुक्ति में जो (तन्मतिः) "इदंरजतवदरजतं" इत्याकारक ज्ञान उसका नाम 'भ्रमा' है विपर्यय तथा संशय आत्मकज्ञान भी उसी भ्रमा बुद्धि का (प्रपञ्चः) विस्तार समझना चाहिये ॥१२७॥

आद्योदेहेष्वात्मबुद्धिः शङ्खादौपीततामतिः ।
भवेन्निश्चयरूपाया संशयोऽथप्रदर्श्यते ॥१२८॥

टी०—वह विपर्यय देह में आत्म बुद्धि अर्थात् देह को ही आत्मा मानना तथा शंख श्वेत होता है उसे पीत समझना एवं सीपी को चांदी जानना इत्यादि यदि निश्चय रूप मति होय तो उसका नाम 'विपर्यय' है। अब संशय को दिखलाते हैं "जिसज्ञान में एक वस्तु और उसी वस्तु का अभाव ये दोनों एक धर्म पदार्थ के विशेषण होजावें" उसको संशय कहते हैं—इसका उदाहरण मूलकार स्वयं दिखलाते हैं "किंस्विदिति" ग्रन्थ से—

'किंस्विन्नरो वा स्थाणुर्वेत्यादि बुद्धिस्तुसंशयः॥

टी०—क्या यह पुरुष है या स्थाणु है? इत्यादि ज्ञान का नाम संशय है॥ तात्पर्य यह है कि किसान लोग मृगों से खेत बचाने के लिये मनुष्य की नाईं हाथ पांव अंग जिससे मालूम पड़ें ऐसी लकड़ी बनाकर घास फूस उसके सिर पर पगड़ी की नाईं लपेट कर खेत में गाड़ देते हैं, कि जिससे मृग उसे मनुष्य जान कर दूर से भागजायें और खेत में न घुसें ऐसी लकड़ी को दूर से देख कर किसी मनुष्य ने सोचा कि पगड़ी बांधे लम्बे २ बाहु फैलाए क्या यह कोई मनुष्य खड़ा, परन्तु हिलता चलता नहीं इससे क्या यह कोई लकड़ी है ऐसे अवसर में मनुष्य का

ज्ञान होताहै कि "यह मनुष्य है या नहीं", इस ज्ञान में मनुष्यत्व और मनुष्यत्वाभाव ये दोनों उस लकड़ी में विशेषण है इससे यह संशय ज्ञान है॥

तदभावा प्रकाराधीस्तत्प्रकारातु[१] निश्चयः॥१२९॥

टी०—अब निश्चयका निरूपण करतेहैं 'तदभावेति' उस वस्तु गत प्रकार रूप से जिस ज्ञानमें नहीं है किन्तु उस वस्तु में अर्थात् जिसका ज्ञान होता है) रहने वाला धर्म जिस ज्ञान में प्रकार (विशेषण) है ऐसे ज्ञान को निश्चय कहते हैं॥

तात्पर्य यह है कि जिसमें बिना निषेधके एक पदार्थ प्रतीत हो उस ज्ञानका नाम निश्चय है संशय में भाव और अभाव इस तरह उभयकोटि होती है अतः तदभावा प्रकारक, ज्ञानमें विशेषण दिया है यह निश्चय यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार का होता है जैसे घट पड़ा हुआ देख के, जानना कि यह घट है, इस ज्ञान में यह निषेध नहींहै कि "यह घट नहीं है" इस से यह ज्ञान निश्चय है और इस ज्ञान में घटको ही घट समझा है, न किसी अन्य को घट जाना है इससे यह ज्ञान यथार्थ भी हुआ, तो मानो यह यथार्थ ज्ञान निश्चय है और जहां रज्जु पड़ा है, वहां ज्ञान हुआ कि " यह सर्प है " इस ज्ञान में भी यह निषेध नहीं है कि " यह सांप नहीं है " इससे यह निश्चय हुआ परन्तु रज्जु को सांप समझा है इससे अयथार्थ भी है तो मानो यह अयथार्थ निश्चय है॥ १२८॥

१—तदभावा प्रकारकत्वे सति तत्प्रकारकत्वं निश्चयत्वं। एवम् सत्यन्ते नसंशयव्युदासः। संशयस्योभयकोटिकत्वनियमात्।

स संशयो[१] मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोः ।

टी०—संशय का लक्षण करते हैं "स" इत्यादि ग्रन्थ से (एकत्र) एक धर्मी में विरुद्ध भावाभाव प्रकारक ज्ञान का नाम "संशयज्ञान" है ॥

साधारणादि[२] धर्मस्य ज्ञानं संशय कारणम् ॥१३०॥

टी०—साधारणादि धर्मका ज्ञान संशयमें कारणीभूत है॥१३०॥

१—यत्किञ्चिद्धर्मिनिष्ठ विशेष्यता निरूपित—विरुद्धनाना धर्मनिष्ठ प्रकारता निरूपित प्रकारिता शालिज्ञानं संशयः, अनवधारणं ज्ञानं वा ।

२—साधारणस्य, आदिपदेन, असाधारणस्य धर्मस्य ज्ञानं संशये हेतुः, तद्यथा स्थाणु पुरुषयोः साधारणधर्ममूर्ध्वतादिकमर्थं पुरोवर्तिन्युपलभ्य स्थाणुपुरुषयोःस्मृत्वा विशेषजिज्ञासायां स्थाणुत्व निश्चायकं वक्रकोटरादिकं पुरुषत्वनिश्चायकं शिरः पाण्यादिकं चानुपलभमानस्य दोलायमानं संशयज्ञानमुत्पद्यते 'किमयं स्थाणुर्वा,पुरुषोवा' इति । अयं साधारणधर्मज्ञानजन्यःसंशयः द्वितीयः यथा—शब्देआकाशविशेषगुणत्वमसाधारणधर्ममुपलभमानस्य निर्णायकमजानतः संशयोभवति 'किंशब्दोनित्योऽनित्योवा' इति । न्यायभाष्येतु विप्रतिपत्त्यादीन्यन्यान्यपिसंशयकारणानि प्रतिपादितानि,वैशेषिकैस्तुनाद्दतानितानीतिबोधव्यम् । इदं सुबोध्यम्—संशय स्वरूपस्वरूपः, ,संनिकर्षजत्वात्, इति विचारस्य च, अङ्गंभवति, यस्मात् नानुपलब्धे न निर्णीते विचारः (न्यायः) प्रवर्तते किन्तु संशयिते, इति वा० भाष्यम् ॥

दोषोऽप्रमायाजनकः प्रमायास्तुगुणोभवेत् ॥

टी०—अप्रमाज्ञान के प्रति दोष कारण है तथा प्रमाज्ञान के प्रतिगुण को कारणता है। अब दोषों को कहते हैं।

पित्तदूरत्वादिरूपो दोषो[१]नानाविधोमतः ॥१३१॥

टी०—(पित्तेति) पित्तदूरत्वादि दोष अनेक प्रकार के हैं अर्थात् कहीं कोई रहता है, कहीं कोई रहता है, उन दोषोंको अप्रमा ज्ञान के प्रति कारणता, अन्वय व्यतिरेक द्वारा सिद्ध है अर्थात् कोई एक दोष होय तो अप्रमाज्ञान उत्पन्न होता है न होय तो नहीं होता और गुणको प्रमात्मक ज्ञानके प्रतिकारणता अनुमान द्वारा सिद्ध है इसके विशेष विचार को टिप्पण में देखो ॥ १३१ ॥

प्रत्यक्षेतुविशेष्येण विशेषणवतासमम् ।
सन्निकर्षोगुणस्तुस्या दथत्वनुमितौपुनः ॥१३२॥
पक्षेसाध्यविशिष्टेतु परामर्शो गुणोभवेत् ॥
शक्येसादृश्यबुद्धिस्तु भवेदुपमितोगुणः ॥१३३॥
शाब्दबोधेयोग्यतायास्तात्पर्यस्याथवाप्रमा ॥ गुणः स्यात् :—

---

(१) अप्रमायाः पित्त मण्डूकवसाञ्जनकाचकवधदूरत्वादि जन्यत्वादुत्पत्तौ दोषोहेतुः सचाननुगतोऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुर्भवतीतस्तदुत्पत्तौपरतस्त्वमितिबोध्यम् । अनुमानादिनैवाप्रमात्वमविगृह्यते तेनज्ञप्तावपिपरतस्त्वम् । तथाहि 'इदं ज्ञानमप्रमा, पित्तादिमद्भिजनकत्वात्, यन्नैवम् तन्नैवम् यथा प्रमा, इति ।

टी०—अब गुणों को कहते हैं "प्रत्यक्षइति" विशेषण विशिष्ट विशेष्य के साथ जो नेत्रादि इन्द्रियों का सन्निकर्ष (संबंध) वह प्रत्यक्षप्रमा का उत्पादक गुण होता है॥१३२॥ तथा साध्यविशिष्ट पक्ष में पूर्वोक्त परामर्श ज्ञान अनुमिति ज्ञान का जनक गुण है। गवयादिविषय में जो "गो सदृशो गवय पदवाच्यः" इत्याकारक सा-दृश्यबुद्धि;वह उपमितिज्ञानका जनक गुण है॥१३३॥एवं शाब्दबोध में योग्यताज्ञान यद्वातात्पर्य का यथार्थ ज्ञान ही गुण रूप है॥

भ्रमभिन्नंतु ज्ञानमत्रोच्यतेप्रमा ॥ १३४ ॥

अब प्रमाका निरूपण करते हैं "भ्रमभिन्नमिति"

टी०—इस प्रकरण में भ्रमभिन्नज्ञान की प्रमा संज्ञा है। (शं०) जहां पर शुक्ति तथा रजत उभय में "इमे रजते" इत्याकारक ज्ञान हुआ है वहां इस ज्ञान को रजतांश में भी प्रमात्व नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह ज्ञान भ्रम भिन्न नहीं है किन्तु शुक्ति अंश में भ्रम रूप ही है। (उ०) इस का उत्तर 'अथवा' इत्यादि ग्रन्थ से मूलकार स्वयं कहते हैं ॥ १३४ ॥

अथवा तत्प्रकारं तज्ज्ञानं तद्विशेष्यकम् [1] तत्प्रमा

---

(१) तन्निष्ठ विशेष्यता निरूपिततन्निष्ठ प्रकारता निरू-पित प्रकारिता शालित्वं प्रमायालक्षणम्। एतादृश निष्कृष्ट लक्षणं तु समूहालम्बन भ्रमेऽपि व्याप्ति परिहारः। समूहालम्बन भ्रमस्य रंगांशे रजतत्वप्रकारकत्वेन रजतांशे रंगत्वप्रकारकत्वेन च रजतत्व प्रकारतायाः रजतत्वविशेष्यतानिरूपितत्वाभावात्। एवं रंगत्व प्रकारतायाः रङ्गत्वविशेष्यता निरूपितत्वाभावाच्चेति। यथार्थानुभव एव भ्रम भिन्ना प्रमेति। संशय [illegible] भ्रमा-दिकं तु [illegible] यथार्थं वदन्ति।

टी०—अथवा तद्वद्विशेष्यक तत्प्रकारक ज्ञान का नाम 'प्रमाज्ञान' है जैसा कि 'अयंघटः' इत्याकारक घटत्ववद्विशेष्यक घटत्वप्रकारकज्ञान 'प्रमाज्ञान' है ऐसे ही वस्तुमात्र के ज्ञान में जानना चाहिये ॥

नप्रमानापिभ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम् ॥१३५॥
प्रकारतादि शून्यंहि संबन्धानवगाहितत् ॥

टी०—अब निर्विकल्प का निरूपण करते हैं—"न प्रमेति" इत्यादि ग्रन्थ से निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमा रूप अथवा भ्रम रूप नहीं कह सकते क्योंकि यह प्रकारता विशेष्यता तथा संसर्गता से शून्य है इसका उदाहरण जैसा कि 'यह कुछ है' इत्याकारक है।

प्रमात्वं[१] नस्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तितः ॥१३६॥

टी०—अब "मानाधीनामेय सिद्धिः" इस नियम से यावत् प्रमाण तत्त्व निश्चय न होय तावत् किसी भी पदार्थ का निश्चय नहीं होता इस लिये प्रमाण तत्त्व निश्चय सब से पूर्व अपेक्षित है और वह प्रमात्व के निश्चय बिना नहीं हो सकता इस लिये प्रमात्व निश्चय का उपाय चिन्तन करते हैं "प्रमात्वं" इत्यादि ग्रंथ से यहां पर यह विवेचनीय है कि ज्ञान गत (प्रामाण्य) यथार्थत्व स्वतः ग्राह्य है अथवा (परतः) नाम दूसरे अनुमानादि से होता है इसमें स्वतोग्राह्यत्व मीमांसकों का मत है मीमांसकों का यह भाव

(१) अत्र त्रयो मीमांसका विप्रतिपेदिरे प्रभाकरापरनामका गुरवः, भट्टाः मुरारि नामका मिश्राश्चेति। तत्र गुरूणांमतम्, ज्ञानस्य स्वप्रकाशरूपत्वात्तत् ज्ञान प्रमाण्यं तेनैव गृह्यते, इति भट्टानां मतं च—ज्ञानमतीन्द्रियम्, ज्ञान जन्या ज्ञातता प्रत्यक्षातयाच ज्ञानमनुमीयते, इति। मुरारि मिश्राणां मतेतु अनुव्यवसायेन

है कि जब दूर से प्रत्यक्ष द्वारा जलादि का ज्ञान हुआ तो स्वतः ही यथार्थ ज्ञानत्व स्वरूप प्रामाण्य का निश्चय करके जल की इच्छा वाला प्रवृत्त होता है क्योंकि ज्ञान ग्रह होने पर तद्गत प्रामाण्य का ग्रह भी हो जाता है न्याय सिद्धान्त में परतो ग्राह्य पक्ष गृहीत है इस में नैयायिकों का यह भाव है कि यदि ज्ञान गत प्रामाण्य अपने से ही गृहीत होता तो कदापि संशय नहीं होना चाहिये अर्थात् अनभ्यास दशा में ज्ञान ग्रह के अनन्तर मुझे जो यह जल ज्ञान हुआ है यह यथार्थ है वा नहीं ऐसा संशय नहीं हुआ चाहिये क्योंकि निश्चय होने पर फिर संशय नहीं होता (सं०) जिस स्थल में संशय हुआ है वहां पर हम ज्ञान ग्रह ही

ज्ञानं गृह्यते, इति। तत्र प्राभाकर मतन्तु विशदी क्रियते तद्यथा—ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमेव। प्रमात्वं स्वतएवगृह्यते। प्रमात्वाश्रयो भूतं यत् ज्ञानम् तत् यया कारण सामग्र्या (आत्ममनः संनिकर्षः, इंद्रियविषय संनिकर्षः, इत्यादिना) जन्यते तद्गतप्रमात्वमपि तयैवसामग्र्या गृह्यते। तथाहि—स्वप्रकाशमेव ज्ञानम् ('अयं घटः' इति ज्ञानम्) यथा घटादिकं विषयी करोति, तथा स्वात्मानं (स्वस्वरूपम्) स्वस्याधिकरणम् (आत्मानम्) च विषयी करोति। अतएव (ज्ञानस्यघटादि विषय स्वस्वरूप आत्म रूपाधिकरण एतत्त्रितय विषयकत्वा देव) सर्वं मेव ज्ञानम् 'घटमहं जानामि' इत्याकारक मेव। इत्थंच (सर्वस्यव्यवसायस्यानुव्यवसायात्मकत्वेनच) ज्ञानस्य त्रिति मात्मेय विषयत्वात् 'त्रिपुटी प्रत्यक्षता' इति प्रवादः। तथाच स्व प्रकाश (स्वस्मिन्स्वविषयकत्व) महिम्ना स्वमिव स्वप्रामाण्यमपि विषयति (विषयीभवति) इत्यूचुः।

ज्ञान ग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतो ग्राह्यत्वम्।

नहीं मानते (उ०) यदि ज्ञानका ग्रहण न मानोगे तो ज्ञान धार्मिक प्रामाण्य और उस का अभाव उभय कोटिक संशय ही नहीं होगा क्योंकि संशय में धर्मि ज्ञान को कारणता है जैसे आगे स्थित बहुत ऊंचा मुंड बिना देखे कभी भी यह स्थाणु है या पुरुष है ऐसा संशय नहीं होता इस लिये ज्ञानमें परतःही प्रामाण्य गृहीत होता है। १२६

व्यभिचारस्याग्रहोऽपि सहचारग्रहस्तथा॥
हेतुर्व्याप्तिग्रहे तर्कः [1]क्वचिच्छङ्कानिवर्तकः॥१२७॥

परतःप्रामाण्यमिति नैयायिका मन्यन्ते तेषां प्रयोगः—ज्ञानं प्रमा समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यत्प्रमा न भवति न तत्समर्थप्रवृत्तिजनकं भवति, यथा जलभ्रम इति व्यतिरेकेणाभ्यासदशापन्नज्ञानप्रामाण्यं निश्चीयते, एवं च अनुमानादिप्रामाण्यात् प्रमोपरतस्त्वम्। तदुक्तम्—"प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः। नैयायिकास्ते परतः, सौगताश्चरमं स्वतः॥ प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः। प्रमाणत्वं स्वतःप्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्॥ १॥" इत्यलं पल्लवितेन।

(१) व्याप्यारोपाद्व्यापकप्रसञ्जनं तर्कलक्षणम्। यद्वा अविज्ञाततत्त्वेऽर्थेकारणोपपत्तित तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः न्या० द० १।१।४०। अयमर्थः—तर्क इति लक्ष्यनिर्देशः। कारणोपपत्तितः इति लक्षणम्। अविज्ञाततत्त्वेऽर्थेतत्त्वज्ञानार्थमितिप्रयोजनकथनम् कारणं व्याप्यम्। तस्योपपत्तिरारोपः, तस्मात् ऊहः आरोपः अर्थात् व्यापकस्य, इति। अयञ्चतर्कोनप्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरम्। अपितु प्रमाणानामनुग्राहक तत्त्वज्ञानायकल्प्यते। वात्स्या० भा० (१।१।१)

(२) किंच तर्को धूमवह्न्योर्व्याप्तिपक्षे (उपस्थाप्यमाने) कार्य

टी०—अब व्याप्तिग्रह के उपाय को दिखलाते हैं "व्यभिचारस्येति" पदार्थों के परस्पर व्यभिचार का न ग्रहण होना तथा सहचार का ग्रहण होना व्याप्तिस्वरूप के ग्रहण में कारणी भूत है। क्योंकि व्यभिचार ज्ञान प्रतिबन्धक है अतः उसका अभाव कारण है और जहां पर बार २ सहचार दर्शन होने पर भी व्यभिचार शंका नहीं दूर होती वहां पर तर्क (ऊह) की अपेक्षा होती है। जैसे किसी ने कहा कि पर्वत में 'धूम हो परन्तु वन्हि न हो ऐसी शंका होने पर तर्क द्वारा दूर करनी चाहिये व्याप्य के आरोप से जो व्यापक का आरोप हो उसे तर्क कहते हैं उदाहरण यदि यह पर्वत वन्हिमान् नहीं है तो इसमें धूम भी नहीं होना चाहिये यहां पर 'व्याप्य' वन्हि का अभाव है और धूम का अभाव व्यापक है तर्ककर्ता का यह भाव है कि वन्हि और धूम का परस्पर कार्यकारण भाव है क्योंकि जब २ मशकादिकों निवृत्ति के लिये धूम की आवश्यकता होती है तब २ नियम से वन्हि (आग) जलाया जाता है अतः सिद्ध हुआ कि धूम वन्हि से उत्पन्न होता है तो वन्हि भी अवश्य है क्योंकि कारण के बिना कार्य्य नहीं हो सकता अन्यथा कार्य्य कारण भाव ही नहीं रहेगा। इस तरह का कार्य्य कारण भाव भंग प्रसञ्जन रूप अनिष्टापादन तर्क कहाता है॥

कारणभावभङ्गप्रसङ्गरूपो व्यभिचार शङ्कानिवर्तकस्तर्केति। अयम भिप्रायःऽत्र यदि व्यभिचारादावदृष्टे तथाहि -यद्यवह्निमत्तर्हि निर्धूमत स्यादित्यादिव्यभिचारशङ्कायां वह्निमत्त्वे धूमवत्त्वमपेक्षितोऽस्यापि प्रतीयते। अतोऽपि तत्त्वनादितरत्वकोटिकसंशयविषयत्वस्य व्यवच्छेदात्। विपर्ययप र्यवसायी : ।अवच्छिन्नविषयकः इत्यर्थं एवोक्तप्रकारेण।

साध्यस्य व्यापको यस्तुहेतोरव्यापकस्तथा ।
स [1]उपाधिर्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयंप्रदर्श्यते ॥१३८॥

टी—जिस अनुमान में उपाधि लगजावे वह दुष्ट होजाता है, इससे अनुमान की रचना में शुद्धि के लिये उपाधिका जानना भी अपेक्षित है; क्योंकि उपाधिका यही प्रयोजनहै, जिसअनुमान में उपाधि लगजाय, वहां व्यभिचार का अनुमान कराके उस अनुमान (हेतु) को दुष्टकर देता है, इसलिये उसके स्वरूप का निरूपण करते हैं. 'साध्यस्येति' जो धर्मसाध्य का व्यापक हो (साध्यके किसी भी अधिकरण में जिसका अभाव न रहे) और हेतु का जो न व्यापक हो (हेतु के किसी एक अधिकरण में जिसका अभाव रहजावे) उस धर्म को उपाधि कहते हैं। उस 'उपाधि' का 'निष्कर्ष' अर्थात् यथार्थ सार आगे दिखलाते हैं॥१३८

सर्वेसाध्यसमानाधिकरणाः स्युरुपाधयः ।
हेतोरेकाश्रये येषां स्वसाध्य व्यभिचारता॥१३९॥

टी—सर्व ही उपाधिस्वरूप धर्मसाध्य के साथ समानाधिकरण होते हैं अर्थात् साध्य के व्यापक होते हैं जिन उपाधिरूप धर्मों का हेतु के एक आश्रय में स्व (अपना) और साध्य का व्यभिचार होता है॥

---

(१) साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिलक्षणम् । तदयमाचार्यमते उपाधिपदयोगरूढम् । अत्रव्युत्पत्तिः—उपसमीपवर्तिनि आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्ममित्युपाधिः इति । एवं च धूमवान् वह्नेरित्यादौ धूमसंसर्गादिकमुपाधिः ।

व्यभिचारस्यानु[१]मानमुपाधेस्तुप्रयोजनम् ॥

टी०—व्यभिचार का अनुमान कराना उपाधि का प्रयोजन है इसी को स्पष्ट करता हूं अनुमान में सदा हेतु व्यापक साध्य होता है परन्तु उपाधि युक्त अनुमान में साध्य का व्यापक उपाधि यदि हेतु का व्यापक नहीं तो उपाधि से न्यूनदेश में रहने वाला साध्य कहां से हेतु का व्यापक होगा इसी युक्ति से उपाधि वाले अनुमान में व्यभिचार देते हैं जैसाकि कि "पर्वतो धूमवान् वन्हेः महानसवत इस व्यभिचारी में आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि है यह आर्द्रेन्धनसंयोग (गीली लकड़ीका सम्बन्ध) धूम का व्यापक है अर्थात् बिना इस आर्द्र काष्ट के संबन्ध से धूम नहीं होता और वन्हि का अव्यापक है कि वन्हि के अधिकरण लोह पिण्ड में आर्द्र काष्ट का सम्बन्ध नहीं है, तो उपाधि लक्षण आर्द्रेन्धनसंयोगमें घटित होगया अब प्रयोजन दिखलाते हैं तथाहि इस अनुमान में धूम व्यापक आर्द्र काष्ट संयोग जब वन्हि का व्यापक नहीं है तो धूम साध्य कहां से वन्हि का व्यापक होगा, किन्तु यह अनुमान व्यभिचारी है यह बात उपाधि से सिद्ध हुई।

१—व्यभिचारोन्नायकत्वेनोपाधेर्दूषकत्वम् । तथाहि साध्य व्यापक उपाधि पक्षाद्व्यावर्तमानः सन् स्वव्याप्यं साध्यमादाय व्यावर्तते । व्यापक निवृत्तौ व्याप्यनिवृत्तेरावश्यकत्वात् । तथाहि साध्याभाववतिपक्षे विपक्षरूपे वर्तमानो हेतुर्व्यभिचारीभवति । तदुक्तम् । व्यभिचारोन्नयं कुर्वन्नुपाधिर्यातिदोषताम् । एतदेवहि सर्वेषामुपाधीनां प्रयोजनम् । व्यभिचारोन्नयस्त्वेवम् । अयं हेतुः साध्यव्यभिचारी साध्य व्यापकोपाधि व्यभिचारित्वात् यो यस्य व्यापक व्यभिचारी स तद्व्याप्यव्यभिचारी, इति ॥

शब्दो[1] पमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते ॥१४०॥
[2]अनुमान गतार्थत्वादिति, वैशेषिकं मतम् ॥
तन्न सम्यग् विना व्याप्ति बोधं शब्दादिबोधतः १४१

टी०—(वैशेषिक) कणाद मुनि के मत में शब्द प्रमाण और उपमान प्रमाण पृथक् नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणों का अङ्गीकार है शब्द प्रमाण साध्य और उपमान साध्य फल अनुमान द्वारा ही सिद्ध होता है इसी लिये कहते हैं कि "अनुमान गतार्थत्वात्" अर्थात् अनुमान विषया ही इन का

१—अत्र, "शब्दो न प्रमाणम्" शब्दज्ञानन्तु लैङ्गिकमेव। तथा च शब्दोऽनुमानएवान्तर्भवति आप्ये शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भाव' समानविधित्वात्' 'एतानि पदानि स्मारितार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणि, आकांक्षादिमदाप्तोक्त पदत्वात् गामभ्याजेति पदकदम्बवत्' इतिज्ञानावच्छेदकतया संसर्गसिद्धिरनुमानादेव भवति इति पदपक्षकानुमानेन शब्दो न प्रमाणम्। एवमुपमानमपि न प्रमाणान्तरम्। तथाहि 'गवयपदं सप्रवृत्तिनिमित्तकम्, साधुपदत्वात्' इत्यनुमानेनैवास्यापि निर्वाह इति वैशेषिकाणां हृदयमिति ॥

(२) नैयायिकास्तु—'पृथगेव शब्दोमानम्, शब्दस्यार्थाव्याप्यत्वात् नहि 'यत्र शब्दस्तत्र घटानयनादिकपाथः' इतिव्याप्तिः, शब्दस्याकाशवृत्तित्वात्, घटादेस्तदवृत्तित्वात्। तथा च शब्दोऽतिरिक्तं प्रमाणम् 'शब्दात्प्रत्येमि' इत्यनुव्यवसायगम्या ज्ञानस्य प्रत्यक्षानुमित्यादि प्रतीतितो विलक्षणत्वेन तादृश ज्ञानकरणत्वेन सिद्ध्यति, इत्याहुः'। प्रमाणस्य प्रमाणान्तरत्वे तु प्रागेव समाधायि, इतिपुनरत्र तदुल्लेखनमुपेक्षितम्।

प्रामाण्य है कुछ स्वतन्त्रता से नहीं है इस में वैशेषिकों का यह भाव है कि जैसे "अनुमान का विषय परोक्ष होता है ऐसे ही शब्द का भी होता है और जैसे अनुमान प्रमाण में व्याप्तिरूप संबन्ध (लिङ्गलिङ्गि संबन्ध) की आवश्यकता होती है ऐसेही शब्द प्रमाण में भी संबंध की अपेक्षा होती है और जैसे प्रत्यक्ष से धूम को देख कर अग्नि का अनुमान होता है ऐसे ही शब्द को सुनकर अर्थ की प्रतीति होती है इत्यादि युक्तियों से शब्द अनुमान ही है इति।

अब इसका समाधान नैयायिककरते हैं 'तन्नेति' इत्यादि से यह आप का पूर्वोक्त सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि व्याप्ति विना भी शब्दादिसे शाब्दबोध अनुभव सिद्ध है अर्थात् जो अनुमान का फल अनुमिति है वह व्याप्ति ज्ञानके बिना कभी नहीं उत्पन्न होती और शाब्दबोध तो उसके बिना भी शब्दादि से उदय होता है अतः फल की तथा सामग्री की भिन्नता से शब्द पृथक् प्रमाण है जैसे शब्द दो प्रकार का है एक पदस्वरूप दूसरा वाक्य स्वरूप उनमें वाक्य तो सम्बन्धज्ञान रहित भी वाक्यार्थबोधन कराने में पर्याप्त है क्योंकि नूतन निर्मित श्लोक के सुनने से पद संस्कार वाले पुरुषों को उसके अर्थ की प्रतीति देखी गई है॥

वह वाक्य दो प्रकारका है लौकिक तथा वैदिक लौकिक केवल आप्तोक्त ही प्रमाण है क्योंकि पुरुष में भ्रम प्रमाद विप्रलिप्सा (वञ्चन करने की इच्छा)होती है अतःसर्व वाक्य प्रमाण नहीं है और वैदिक तो ईश्वरोक्त होने से सर्वही प्रमाण है अतएव वेद तो स्वतः प्रमाण अर्थात् अपने कहे हुए पदार्थ की सत्यता निश्चय के लिये दूसरे किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रखता परन्तु

अन्य समस्त जो स्मृत्यादि वेदमूलक होने से ही प्रमाण हैं (शं०) (३)वेद तो अनादि है फिर ईश्वरोक्त कैसे । वेद पौरुषेय है अर्थात् पुरुष विशेष ईश्वरोक्त है क्योंकि यह भी वाक्य समूह है महाभारत आदि की न्याईं इस अनुमान द्वारा इसकी पौरुषेयत्व सिद्धि है। (शं०) ईश्वर का तो शरीर नहीं है तो मुखादि का अभाव होने से वेद का उच्चारण कैसे हुआ (उ०) शरीर रहित होने पर भी अपने हित अहित को प्राप्त करने और परित्याग करनेके उपाय को न जानते हुए पुरुषों को देखता हुआ संतप्त होकर पितृहृदय वह सर्वज्ञ क्योंकर विना उपदेश करने के रहसकता है अतः ब्रह्मा

---

(३) लौकिकवाक्य भिन्नवाक्यत्वं वेदस्य लक्षणम् ।

तासांच वृक्षशाखाना मेकस्माज्जन्मवीजतः ।
तथैव सर्वशाखानामेकस्मात्पुरुषोत्तमात् ॥१॥
तदुक्तम्–कर्तायएवजगतामखिलप्रवृत्ति कर्मप्रपंचपरिपाकविचित्रताज्ञः । विश्वात्मनातदुपदेशपराः प्रणीतास्तेनैववेदरचना इतियुक्तमेतत् ॥ २ ॥

तथा च श्रुति स्मृति सूत्रादीन्यपीश्वरोक्तत्वं समर्थयन्ति "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्। यस्य निश्वसितं वेद इत्यादि यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवमात्म बुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये"(यजुः)"तद्वचनादाम्नायस्य प्रमाण्यम्"(वै०१।३)"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा (स्मृतिः) परन्तु "ऋग्वेद एवाग्ने रजायत,यजुर्वेदोवायोः सामवेद आदित्यात्" इत्यादि श्रुतेस्तु ईश्वरस्याग्न्यादेः प्रेरकत्वेन निर्मातृत्वंगम्यते।

के हृदय में अपने ज्ञानको प्रकाशित करता है और फिर तद्द्वारा आगे प्रकाशित होता है अथवा वह भी शरीरीही है पुरुषके अदृष्ट से जैसा के शरीर की न्याईं इस र अदृष्टों से ही स्वेच्छा प्रयुक्त उसके शरीर की उत्पत्ति होसकती है अतएव चतुर्भुज आदि का श्रवण भी होता है परमाणु ही ईश्वर का शरीर है कई ऐसा कहते हैं कई लोग भूताधम न्याय से परमात्मा का शरीर मानते हैं क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदाय

(प्र०) वेदप्रमाण्यं पुरुषोक्ततयाऽध्यवस्याप्यते।
वेदाच्च पुरुषसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयइति।

(उ०) अनुमानात्प्रसिद्ध कर्तरिवेदवाक्यैस्तत्प्रतीतेरपो।
इष्टनमिष्यते न त्यागमैकशरणएवकर्थं नगम.।

(प्र०) पुरुषसूक्तेऽन्यत्रापिच वदयो, इत्येवाघोष श्रूयतेऽथर्वाच
ऋगयजु सामान्येवगृह्णन्ति तथाहि—"तस्माद्यज्ञु"

"ऋच सामानिजज्ञिरे" इतिपुरुषसूक्तम। त्रयीधर्ममधर्मार्थमित्यादिमहाभारतेचदृश्यते वेत्स्वायमथर्ववेदेन ब्रह्मत्वप्रस्थपादिटीकायामिति (उ० अथर्ववेदस्यापित्रयीभागविशेषत्वात्त्रयीवहिर्भूतत्वमिति त्रयीपदेन तस्यापि ग्रहण इति नतदप्रामाण्य विधिव्यर्थेति॥

— वेदोऽपौरुषेय इति मीमांसक सिद्धान्तः। तथा च तेषा प्रयोगः वेदाध्ययन गुर्वध्ययन पूर्वकं वेदाध्ययनत्वात् इदानीन्तनाध्ययनवत् इत्यनुमानेनानादित्व साधयन्ति।

(४) यथातरोर्विविधा शाखा भवन्ति न च कृत्स्न पुष्पफल पत्रमेकस्यां शाखायां सन्निहित भवति किन्तु कस्याश्चित्कस्याश्चित्। एव वेदस्यापि शाखा पृथग्पृथक्कर्माण्युपदिशन्त्यो विविधास्ताश्च,

प्रवर्त्तकोऽनुग्राहकश्च" अर्थ अविद्या (मिथ्याज्ञान) अस्मिता (बुद्धि और आत्मा को एकरूप से जानना) अभिनिवेश (मरणभय) राग और द्वेष यह पाञ्च प्रकार के क्लेश हैं तथा शुक्ल कृष्ण आदि कर्म विपाक उनके जात्यादि फल और आशय कर्म वासना इनसे जिसका कोई सम्बन्ध नहीं शरीर साध्यवेदादिके निर्माण के लिये शरीर को आश्रित करके संप्रदाय प्रवर्त्तक नामवेदका प्रचार करने वाला और अनुग्राहक अर्थात् कार्य्यमात्र बताने को शिक्षा द्वारा कृपा करने वाला जो वह ईश्वर है ऐसा योगशास्त्र का सिद्धान्त है अतः सृष्टिके आरम्भमें ईश्वरके विना व्यवहार के न सिद्ध होनेसे उसका होना तथा उसका सर्वप्रभाव अवश्य मानने योग्य है (शं०) भारतआदिग्रन्थों में तो व्यास कर्ताका स्मरण है अतः वह अनित्य हैं परन्तु वेद का तो कर्ता श्रुत नहीं अतः वह अनित्य कैसे (उ०) यदि ऐसा पूछो तो वेद में प्रजापति कर्ता स्मृत है। (शं०) प्रजापति का नाम कीर्त्तन वेद मन्त्रों की श्रेष्ठता के लिये है (उ०) ऐसा तो भारत में भी व्यास का नाम इसी प्रयोजन के लिये समझा जायगा (शं०) वेद के निर्माण कर्ता को आज तक किसी ने भी कहीं नहीं देखा (उ०) तो क्या व्यास जी को आपके पिता अथवा पितामह जी ने कहीं देखा है। (शं०) यदि कहो कि भारतकर्ता व्यास है यह सर्व का कथन है (उ०) ऐसे ही वेदकर्ता प्रजापति है यह लोक में प्रसिद्ध है किञ्च स्वयं भी माता अथवा पिताके वचन से उपदेश किया हुआ कर्म हम क्यों करते हैं जिससे हमे माता पिता पर यथार्थ होने का निश्चय है इसी तरह से अनेक क्लेश और धनादिके व्यय से सिद्ध होने वाला जो वेदसे कहा हुआ कर्म समुदाय क्या उसके उपदेश देने वाले यथार्थ वक्ता कर्ता का स्मरण न करके ही बुद्धि युक्त मनुष्यों से किया जाता है। यह कथन

अति मूर्खता का बोधक है। (शं०) वेद भी तो काठकादि भेद से अनेक शाखा हैं तो सर्व का एक ही कर्ता है कैसे जाने किन्तु जैसे अनेक ग्रन्थ अनेक कर्ताओं से रचित होते हैं। ऐसे ही यहां पर भी अनेक कर्ता क्यों न माने । (उ०) वेद सर्व ही एक कर्ता परमात्मदेव से रचित है । जिससे परस्पर सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ का इनमें उपदेश दृष्ट होता है। यथा एक ही यज्ञ स्वरूप कर्म चारों वेदों में कहे हुए और एक ही अर्थ में सम्बन्ध रखते हुए अङ्गोंसे मिला हुआ प्रयुक्त होता है। उसमें होत्र (होता का कार्य्य) ऋग्वेद से आध्वर्यव (अध्वर्यु का कर्म) यजुर्वेद से और औद्गात्र (उद्गाता ऋत्विक् का कर्म) सामवेद से और ब्रह्मत्व (ब्रह्मा का कर्म) अथर्व वेद से सिद्ध होता है। और ऐसे पैप्पलादि शाखा विधियों में जो उपदेश है। वह २ तत्तत अङ्ग तत्तत्कर्म में अपेक्षित होता है यदि तत्तत् शाखा और वेद भिन्न २ कर्ता से रचित हों तो एक अर्थ में सर्व का समावेशन होता क्योंकि सर्व कर्ताओं का आशय एक नहीं होता। इस सर्व कथन से यह सिद्ध हुआ कि सर्व वेदोंका तथा (४) सर्वशाखाओं का एक परमात्मा ही कर्ता है। (शं०) यदि सर्वशाखाओं का एक ही कर्ता है। तो यह काठक है। यह पैप्पल है। इत्यादि ऋषि नामों का शाखाओं से निर्देश कैसे। (उ०) नाम निर्देश तो प्रकृष्ट अध्ययन प्रयुक्त अथवा विशिष्ट व्याख्यान कर्तृकत्व से जानना चाहिये।

त्रैविध्यमनुमानस्य केवलान्वयिभेदतः ॥
द्वैविध्यं तु भवेद्व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकतः ॥१४२॥
अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकादथोच्यते ॥

टी०—पच लिङ्ग (अनुमान) के तीन भेद कहते हैं। 'त्रैविध्य मिति'। केवलान्वयि, केवल व्यतिरेकि। और अन्वय व्यतिरेकि के भेद से अनुमान तीन भेदका है। अब क्रमश: लक्षण और उदाहरण दिखलाते हैं। जिसका विपक्ष न हो वह केवलान्वयि है।"शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् घटवत्। यहां पर अभिधेयत्व साध्य है परन्तु उसका अभाव स्थल कोई नहीं मिलता क्योंकि सर्व ही वस्तु अभिधेय (नाम का विषय) है। अतः प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी हुआ जिसका सपक्ष न मिले वह केवल व्यतिरेकी हेतु होताहै। जैसे "जीव वच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वादनयदेवं नतदेवं यथा पाषाणः" यहां पर जीव शरीर तो पक्ष है। उसमें सात्मकत्व अर्थात् आत्मा साध्य है और प्राणादिक हेतु है और पाषाण दृष्टान्त है यहां पर जहां २ आत्मा नहीं है वहां २ प्राणादिक भी नहीं हैं। इसका दृष्टान्त पाषाण मिल जाता है। अतः व्यतिरेक व्याप्ति तो सिद्ध होगई परन्तु जहां २ प्राणादि हैं वहां २ आत्मा है ऐसा दृष्टान्त कोई नहीं मिलता क्योंकि जीवशरीर मात्र ही तो पक्ष है। और दृष्टान्त पक्षसे भिन्न होता है। और अन्यस्थल में हेतु और साध्य हो नहीं हैं। अतः सपक्ष के न होने से प्राणादिमत्त्व हेतु केवल व्यतिरेकी हुआ। और जिसका सपक्ष और विपक्ष उभय होय अर्थात् जिसकी अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति दोनों होय वह हेतु अन्वयव्यतिरेकी होता है। जैसे "शब्दोऽनित्यः कार्य्यत्वात् घटवत् व्यतिरेकेगगनवत्" यहां पर जहां २ कार्य्यत्व है। वहां २ अनित्यत्व है। इसका दृष्टान्त सपक्ष घट हुआ और जो अनित्य नहीं है वह कार्य्य भी नहीं है दृष्टान्त विपक्ष आकाश है। अतः कार्य्यत्व हेतु अन्वयव्यतिरेकी है। अब व्याप्ति के दो भेद कहते हैं। अन्वय और व्यतिरेक भेदसे व्याप्ति दो प्रकार की

है ॥ १४२ ॥ इसमें अन्वय व्याप्ति का स्वरूप तो पूर्व, कहचुके हैं अब व्यतिरेकव्याप्तिका स्वरूप कहते हैं ॥

साध्याभावव्यापकत्वं हेत्वभावस्य यद्भवेत् ॥१४३॥

टी॰—साध्याभाव निरूपित हेत्वभाव में जो व्यापकता वह व्यतिरेक व्याप्ति कहाती है ॥ १४३ ॥

[१]अर्थापत्तेस्तु नैवेह प्रमाणान्तरतेष्यते ॥

व्यतिरेकव्याप्तिबुद्ध्याचरितार्थाहिसायतः ॥१४४॥

टी॰—अब मीमांसक और वेदान्तियोंकी मानी हुई अर्थापत्ति की न्याय में, प्रमाणान्तरता का खण्डन करते हैं 'अर्थापत्तेरिति' न्यायमें अर्थापत्ति पृथक् प्रमाण नहीं है किन्तु व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञानसे इसकी गतार्थता नाम अन्तर्भाव है जैसे मोटा यह देवदत्त दिन में नहीं खाता ऐसा देखने अथवा सुनने पर दिन को न खाने वाले का रात्रिके भोजन विना मोटा पन हो नहीं सकता इस ज्ञान के अनन्तर देवदत्त रात्रिको अवश्य खाता है यह निर्णय होता है इस निर्णयके साधन (रात्रि भोजन के विना मोटापन न होना रूप्या कारक ज्ञान) अर्थापत्ति प्रमाण माना है और रात्रिभोजन की सिद्धि फल स्वरूप अर्थापत्ति है यहां प्रमाण और प्रमा की

(१) उपपाद्यज्ञानेनोपादककल्पनमर्थापत्तिः 'यद्विनायदनुपपन्नं तत्तस्योपपादकम्' रात्रिभोजनमुपपादकं पीनत्वमुपपाद्यम्। अर्थस्यापत्तिः कल्पना ' इतिव्युत्पत्तिपक्षपरा, करणेतु,अर्थस्यापत्तिः यस्यादितिव्युत्पत्तिदृष्टया अत्र मीमांसकानामयमाशयः नान्वयव्याप्तिः,व्यतिरेकव्याप्तिः,इतिविकल्पनानुमानादिभिन्नेवानुमितिरिति॥

एक ही संज्ञा है जैसे प्रत्यक्ष ही प्रमाण और प्रमाकी भी संज्ञा है सो यह रात्रि भोजन सिद्धि तो व्यतिरेकी हेतु सेही होसकती है जैसे अयं देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते, दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात् यस्तु रात्रौ नभुङ्क्ते सदिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनो नभवति, यथा दिवा रात्रौ चाभोजी, इति अर्थ यह देवदत्त रात्रिको खाता है दिनको न खाकर मोटा होने से जो रात्रिको नहीं खाता वह दिन को न खाकर मोटा भी नहीं होता जैसे दिन और रात्रिको न खाने वाला यहां पर देवदत्त पक्ष है रात्रिको खाना साध्य है दिन को न खाकर मोटा होना हेतु है और दोनों समय न खाने वाला दृष्टान्त है इस तरह जब व्यतिरेकी हेतु से ही रात्रिभोजन सिद्ध होगया तो अर्थापत्ति भी व्यतिरेकी का ही दूसरा नाम है पृथक् प्रमाण नही है ॥ १४४ ॥

[1]सुखन्तु जगतामेव काम्यं धर्मेणजन्यते ॥

टी०—बुद्धिका कार्य होनेसे बुद्धि के अनन्तर सुखका निरूपण करते हैं 'सुखमिति' यावज्जीवों की इच्छा के विषय तथा गङ्गा

(१) इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वे सति भावत्वं सुखस्य लक्षणम् अत्र सुखेच्छाधीनभोजनादावतिव्याप्तिवारणायेतरेच्छानधीनेतीच्छा विशेषणम् । दुःखाभावस्य काम्यत्वेऽपि स्वतःपुरुषार्थत्वेऽपि च तस्य भावत्वाभावान्नतत्रातिव्याप्तिरिति । वेदान्तिमते च सुखं द्विविधम्, नित्यं जन्यं च । तत्र नित्यं ब्रह्मस्वरूपसुखम् जन्यम् (अनित्यं) तु विषयसंपर्काद्वैषयिकं सुखमिति । पातञ्जलास्तु—वैषयिकसुखानां परिणामदुःखादिभिर्दुःखत्वमिति वैराग्यार्थं मन्यन्ते तथा च सूत्रम् परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति (पात० पा० २ । सू० १५)

स्नान, तीर्थयात्रा, यज्ञ, तपस्या आदि उत्तम कर्मोंके व्यापार से जो उत्पन्न हो, ऐसे पदार्थ को सुख कहते हैं वह सुखन्यायमत में चार प्रकार का है वैषयिक, आभिमानिक, मानोरथिक, और आभ्यासिक प्रथम विषयके प्रत्यक्ष से उत्पन्न द्वितीय राज्यादि के अधिकार जनित गर्व से उत्पन्न तृतीय विषयके चिन्तन जन्य और चतुर्थ सूर्य नमस्कारायासादि जन्य लाघव रूप होता है(प्रं०) गौतम दर्शन में सूत्र में सुख पठित नहीं है फिर आप क्यों लिखते हैं। (उ०) गौतम सूत्र में सुखके न गणन का यह प्रयोजन है कि वैराग्य हो अर्थात् सुखको भी दुःखरूप से चिन्तन करने से पुरुष को वैराग्य होगा न कि सुख के अस्वीकार में तात्पर्य है जो लोग दुःखाभाव मात्र को ही सुखमानते हैं उनके मतमें आनन्द रूपता से जो अनुभव है वह नहीं हुआ चाहिये तथा मैं हितको प्राप्त करूंगा और अहित को त्यागूंगा इस प्रकार की द्विविध प्रवृत्ति भी नहीं होनी चाहिये। कई लोग सुख और दुःख को भी ज्ञान का ही भेद मानते हैं परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने से अनुभव विरोध दुर्वार होगा यथा मैं सुखी हूं वा दुःखी हूं इस अनुभव से मैं जानता हूं यह अनुभव विरुद्ध है। यह सुख आत्मधर्म है यह नैयायिक सिद्धान्त है। चित्तधर्म सुखहै यह सांख्य कहते हैं। (प्रं०)यदि सुख आत्माके मानोगे तो धर्म (सुख)के हवि क्षय प्रयुक्त आत्मामें विकार प्राप्त होगा (उ० धर्म (सुख) गत अनित्यत्वादि से नित्य स्वरूप आत्मा को हानिकुछ नहीं हो सकती इति ॥

अधर्मजन्यं[1] दुःखंस्यात्प्रतिकूलंसचेतसाम् ।१४५

---

१ इतरदेप.नर्धीमहेपविषयत्वंदुःखत्वमपाम् । अवमपोदावति ध्याचितगुद्दाणाय,इतरत्वानधीनेतिषयविषयपदतम् । तेन, सर्व

टी०–अब सुखका प्रतिद्वन्द्वि होने से सुखके अनन्तर दुःख का निरूपण करते हैं 'अधर्मजन्यमिति' जो अधर्म (पाप) से उत्पन्न हो और किसी पुरुषादि के चित्त को भी अच्छाननप्रतीत हो उसे दुःख कहते हैं दुःख और सुखके परस्पर भेदको प्रशस्त पादाचार्य आदिकों ने कार्य्य भेद से दिखलाया है जैसे दीनता मुखमालिन्य आदि दुःख कार्य्य हैं और मुख प्रसादादि सुख कार्य्य हैं दुःख भी आत्मा का गुण है और सांख्य में,रजोगुण का कार्य बुद्धि का ही परिणाम विशेष दुःख माना है सांख्य में दुःखके तीन भेद माने हैं, यथा–१ आध्यात्मिक, २ आधिदैविक; और ३ आधिभौतिक और न्याय मतमें सुख की न्याईं दुःख भी चार प्रकार माना है इस दुःख के कईएकभेद श्लोक सिद्ध कविकल्पलता ग्रन्थ में कारण भी दिखलाए हैं तथाहि। १परतन्त्रता,–आधि,(मानसिक चिन्ता,व्याधि,(वातपित्त श्लेष्मजनितरोग) मानच्युति,शत्रु,कुभार्या निर्धनता, कुग्रामवास, कुस्वामिसेवा,बहुकन्या,बुढ़ापा दूसरेके घरमें निवास दौभार्या दुष्ट भृत्य इत्यादि। सुख और दुःख दोनोंही सिद्धान्तमें अनित्य हैं कोई नित्य सुख भी मानकर उसी को प्राप्ति को ही मोक्ष मानते हैं परन्तु दुःख किसी के भी मत में नित्य नहीं है ॥ १४५ ॥

निर्दुःखत्वे सुखेचेच्छातज्ज्ञानादेवजायते ।
[1]इच्छातु तदुपायेस्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि ॥१४६॥

टी०–अब इच्छा का निरूपण करते हैं। निर्दुःखत्व इति दुःखाभाव तथा सुख की अपेक्षा वा कामना (चाह) को इच्छा

हेयस्यसर्पजन्यदुःखस्येपजन्यत्वात् नातिव्याप्तिः। बाधनालक्षणंवा (गौ० १।१।२१) बाधनापीडातदेवलक्षणंस्वरूपंयस्यतदित्यर्थः (गौ० सू० १।२१) १ इच्छात्व सामान्यतो, इच्छा ॥

कहते हैं इनदोनों के उपाय में यदि जीवको इष्ट साधनत्व प्रकारक ज्ञान होय तो उपाय विषयिणी इच्छा होती है अर्थात् इच्छा दो प्रकारकी है फल विषयिणी द्वितीय उपाय विषयिणी मुख्य फल भी दो भेदके हैं प्रथम सुख और द्वितीय दुःख का अभाव फलकी इच्छा में फल का ज्ञान ही कारण है उस मे इष्ट साधनता ज्ञान की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सुख ही तो अन्तिम फल है इसी लिये सुख ज्ञानमात्र से ही सुखकी इच्छा उत्पन्न होजाती है और उपायेच्छाके प्रतितो इष्ट साधनता ज्ञान अर्थात् यह वस्तु मेरे सुखका साधन है ऐसे ज्ञान होनेसे उस अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है यथा स्वर्ग स्वरूप फल का उपाय याग है तो याग विषयिणी इच्छा के प्रति 'यागो मदिष्ट साधनम्' अर्थ-याग मेरे इष्ट (स्वर्गात्मक फल) का साधन है सांख्य में तो इसे भी चित्तका धर्म माना है और नित्य और अनित्य भेदसे फिर इच्छा दो प्रकार की है उस में जीवकी तो अनित्येच्छा है और ईश्वर की नित्य है तथा "सर्वं जगद्भूयात्" इस प्रकार से समूहालम्बनात्मिका है और मायावादियोंके मतमे तो ईश्वरेच्छाभी आकाशादिकी नाईं अनित्य है काम अभिलाष, राग, संकल्प उपधा (परवञ्चनेच्छा) कारुण्य (अपने प्रयोजनकी अपेक्षा छोड़ कर दूसरेके दुःखदूर करने इच्छा) भाव आदि क्रिया के भेद सभी इच्छा के ही भेद हैं ॥ १४६ ॥

चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छाचयामभवेत् ॥
तद्धेतुः कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिर्भवेत् ॥१४७॥

टी०--किसी काम करने की इच्छा को चिकीर्षा कहते हैं

---

१ कृतिसाध्यत्वप्रकारिका कृतिसाध्यक्रियाविषयिणीच्छा चिकीर्षा । यथा-'पाकं कृत्या साधयामि' इत्याकारिकेच्छा ॥

अर्थात् कृतिसाध्यत्व प्रकारक इच्छा का नाम चिकीर्षा है इस चिकीर्षा के दो कारण हैं एक तो यह कि कृति साध्यत्व प्रकारक ज्ञान (अर्थात् इस काम को मैं अच्छी तरह करसकता हूं) इस अपनी सामर्थ्य का जानना और दूसरा इष्ट साधनत्व ज्ञान (अर्थात इस काम के करने से मेरा यह प्रयोजन सिद्ध होगा) इस प्रयोजन सिद्धि का जानना । और यह भी जानना कि यह दोनों ज्ञान केवल चिकीर्षा के कारण नहीं, प्रत्युत कार्य्यमात्र के कारण माने हैं और पानी को लोटे से मारने की समार्थ्य मनुष्य में भी है, तो भी भले पुरुष इस काम को नहीं करते, इस में यही हेतु है, कि पानी को लोटे से मारने से कुछ प्रयोजन नहीं सिद्ध होता तो मानो इष्ट साधनता ज्ञान नहीं रहा। इसी प्रकार स्वर्ण पर्वत के एक शिखर उठा लाने में प्रयोजन सिद्धि का ज्ञान है भी, महात्मा कोई भी इस काम को नही चाहता तो इसमें यही कारण है, उसकी शिखरतक पहुंचने की सामर्थ्य किसीमें नहीं, अर्थात् कृति साध्यता ज्ञान नहीं रहा इस से सिद्ध हुआ कि दोनों ज्ञान जिसमें हों उसी को चिकीर्षा होती है जैसे अन्न आदि के खाने आदि में ॥

बलवद्द्विष्टहेतुत्वमति स्यात्प्रतिबन्धिका ।
तदहेतुत्वबुद्धेस्तु हेतुत्वं कस्यचिन्मते ॥ १४८ ॥

टी०—बलवद्द्वेष विषयक दुःखादि साधनता ज्ञान "इदं मे महद्दुःख साधनम्" इत्याकारक ज्ञान पूर्वोक्त चिकीर्षा का प्रतिबन्धक है अर्थात् पूर्वोक्त दोनों कारण रहें भी, और यदि ऐसा ज्ञान साथ पड़ जावे, कि इस कामके करने से मुझे कोई बड़ा भारी दुःख प्राप्त होगा तो कभी उस कामको नहीं करेगा। जैसे विष मधु युक्त अन्न के खाने में किसी पुरुष को चिकीर्षा नहीं होती और किसी

प्रभु विचार के सिद्धान्त में (तत) बलवदनिष्ट की अजनक विषयक ज्ञान को उस चिकीर्षा के प्रतिकारणता मानी है ॥ १४८ ॥

द्विष्टसाधनताबुद्धिर्भवेद्द्वेषस्य कारणम् ।

टी०—द्वेष का निरूपण करते हैं। द्विष्टेत्यादि से द्वेष के विषय दुःखादि साधन विषयक ज्ञान द्वेष का निमित्त कारण है, जब कोई पदार्थ वा जीव अपने को दुःख देता है, तो उस पर जो क्रोध होता है और फिर उस क्रोध से जो इच्छा होती है कि इस का नाश करदें व इस को कभी आंख से न देखूं इस क्रोध को द्वेष कहते हैं ॥

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम् ॥१४९॥
एवं [१]प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिदर्शितम् ।

टी०—अब प्रयत्न का निरूपण करते हैं। "प्रवृत्तिरिति" प्रयत्न (उत्साह) तीन प्रकार का है जैसे [२]प्रवृत्ति, निवृत्ति, और जीवनयोनि इस भेद से शास्त्रकारों ने निरूपण किया है ॥१४९॥

चिकीर्षा कृतिसाध्येष्ट साधनत्वमतिस्तथा ॥१५०॥
उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं भवेत् ॥

टी०—और कार्य करने की इच्छा तथा कृतिसाध्यत्व ज्ञान तथा कार्य की कारण सामग्री का प्रत्यक्ष, ये सर्व प्रवृत्ति रूप यत्न के कारण हैं ॥ १५० ॥

---

१ प्रवृत्त्याद्यन्यतमत्वं प्रयत्नत्वम् ।

२ तत्र प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ इति । (गौ० १ । १ । १७) । मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतम् । बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिः । सेयं प्रवृत्तिः प्रत्येकं दशविधा पुण्या च पापा च । पुण्या, कायेन परित्राणम् परिचरणम्, दानमिति । वाचा सत्यम्, हितम्, प्रियम्, स्वाध्यायश्चेति । मनसा दया, स्पृहा, श्रद्धा चेति । विपर्ययश्च पापा दशविधा प्रवृत्तिरुक्षेपस्युपचारः

सांसिद्धिकं द्रवत्वं स्यान्नैमित्तिकमथापरम् ॥१५४॥

टी०—अब द्रवत्वका निरूपण करते हैं 'सांसिद्धिकमिति' जिस गुणसे स्पन्द होता है वा जिस गुणके संबन्ध से सूखी स्याही आदि बहने लगती है; उस गुणको द्रवत्व कहते हैं वह द्रवत्व सांसिद्धिक तथा नैमित्तिक भेदसे दो प्रकार का है ॥ १५४ ॥

सांसिद्धिकन्तु सलिले द्वितीयं क्षितितेजसोः।
परमाणौ जले नित्यमन्यत्रानित्यमिष्यते ॥१५५॥

टी०—उसमें सांसिद्धिक (अर्थात् आप से आप बिना किसी उपाय के अपने समवायि कारण में उपजा हुआ) केवल जल में ही रहता है, और द्वितीय नैमित्तिक पृथिवी और तेज में रहता है वह द्रवत्व परमाणु स्वरूप जल में नित्य है परन्तु और सर्वस्थानों में अनित्य है (प्र०) हिम और करकामें तो कठिनता का दर्शन होता है तो फिर जल में सांसिद्धिक कहना युक्त नहीं है। (उ०) सब स्थल में स्वाभाविक द्रवत्व जलमें देखने में आता है इस लिये सांसिद्धिक का तो निश्चय हो है परन्तु हिमकरका स्वरूप कार्य में द्रवत्व नहीं दृष्ट होताहै अतः वहां पर ऐसा जानना चाहिये कि दिव्य (विद्युत) तेजसे संबद्ध जलके परमाणुओं का द्रव्यारम्भक संघात नामक संयोग परस्पर उत्पन्न होजाता है इसी से जल का द्रवत्व प्रतिबद्ध होजाता है, अत एव फिर भूमिके तेज से पिघल कर बहने लगता है ॥ १५५ ॥

नैमित्तिकं वह्नियोगात्तपनीय घृतादिषु ॥

१ आद्यस्यन्दनासमवायिकारणत्वं द्रवत्वलक्षणम् । तच्च [illegible] निरोधनम् ॥

¹द्रवत्वं स्यन्दने हेतुर्निमित्तं ²संग्रहेतुतत् ॥१५६॥

टी०—नैमित्तिक द्रवत्व अग्नि संयोग से तपे हुए घृतादिकों में प्रतीत होता है यह द्रवत्व स्यन्दन में हेतु है अर्थात् निमित्त कारण है और चूर्णादिक पिण्डीभावमें यही द्रवत्व निमित्त कारण है भाव यह है, कि किसी निमित्त से उपजा हुआ द्रवत्व नैमित्तिक कहाता है जैसा कि चांदी, स्वर्ण, लाख आदि वस्तुओं में आग के सम्बन्ध से और सुहागा आदि डालने से जो द्रवत्व उत्पन्न होता है; उसकी उत्पत्ति में आग, और सुहागा आदि निमित्त हैं इसी से इसको नैमित्तिक द्रवत्व कहते हैं ॥ १५६ ॥

²स्नेहोजले सनित्योऽणावनित्योऽवयविन्यसौ ॥
तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद्दहनस्यानुकूलता ॥ १५७ ॥

टी०—अब स्नेहका निरूपण करते हैं 'स्नेहइति'। चिकनाई को स्नेह कहते हैं यह गुण केवल जलमें रहता है यह भी चूर्णादि वस्तु के पिंडबांधने में असमवायि कारण है परन्तु जलके परमाणुओं में स्नेह नित्य है और कार्य में रहने वाला सभी अनित्य है (शं०) पृथिवीमें अर्थात् तैल स्वरूप पृथिवीमें जो स्नेह प्रतीत होता है और वह जलका नहीं होसकता अन्यथा वह्नि के प्रतिकूल होता अतः जलमें ही स्नेह है यह कथन अयुक्त है (उ०) "तैलान्तरे" अर्थात्

---

(१) स्नेहद्रवत्व-कारितः संयोगविशेषः (पिण्डीभावः) सहि (संग्रहः) न द्रवत्वमात्रकारितः; काच-काञ्चनद्रवत्वेन संग्रहानुपपत्तेः। नापि स्नेहमात्रकारितः, स्त्यानैर्घृतादिभिः संग्रहानुपपत्तेः। तस्मात्स्नेह-द्रवत्व-कारितः, इति। वैशेषिकोपस्कारे ॥

(२) चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः ॥

तेजमें भी अवश्य ही रहता है, परन्तु तेजमें उसकी उत्कृष्टता है इस लिये पाकका विरोधी नहीं पाकका विरोधी केवल अनुत्कृष्ट स्नेह है अतः पाककी हानि भी नहीं होती ॥ १५७ ॥

*संस्कारभेदोवेगोऽथ स्थितिस्थापकभावने ॥
मूर्तमात्रेतुवेगःस्यात्कर्मजोवेगजः क्वचित् ।१५८।

टी०—अब संस्कारका निरूपण करते हैं। 'संस्कार भेद इति' संस्कार के तीन भेद हैं वेग, स्थितिस्थापक तथा भावना इनमें वेग नामी संस्कार मूर्तों में अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांचों द्रव्यों में ही रहता है, और यह किसी स्थलमें क्रिया से और कहीं वेग से उत्पन्न होता है, अर्थात् वेग नित्य कहीं नहीं होता ॥ १५८ ॥

स्थितिस्थापकसंस्कारःक्षितौकेचिच्चतुर्ष्वपि ॥
अतीन्द्रियोऽसौविज्ञेयःक्वचित्स्पन्देऽपिकारणम् ।१५९।

टी०—स्थिति स्थापक संस्कार सिद्धान्त में तो पृथिवी में ही रहता है और अनित्य होता है जैसा कि जब किसी वृक्षकी शाखाको खैंच के अपनी ओर झुकावें और फिर छोड़ दें, तो वह वहां ही जा ठहरेगी कि जहां पहिले खड़ी थी, तो जो गुण उस शाखा को अन्य स्थानों से हटाकर उसी प्रथम स्थानपर लेजा ठहराता है, उसे स्थितिस्थापक संस्कार कहते हैं और कई आचार्य्य कहते हैं कि यह स्थिति स्थापक संस्कार पृथिवी जल, तेज, वायु इन चारों में

(१) वेगाद्यन्यतमत्वं संस्कारत्वम् । तदुक्तम्,—"यज्जातीयःसमुत्पाद्यात्तज्जातीयस्यकारणम् । स्वयंयत्नहिजातीयः संस्कारस्तुसो भवेत्" इति (तार्किकरक्षा श्लो०४८) ॥

रहता है यह स्थिति-स्थापक अतीन्द्रिय है और किसी स्थल में स्पन्द रूप क्रिया का भी कारण है ॥ १५९ ॥

[1]भावनाख्यस्तु संस्कारोजीववृत्तिरतीन्द्रियः ॥
उपेक्षानात्मकस्तस्यनिश्चयःकारणंभवेत् ॥१६०॥

टी०—इसी तरह भावना नामसे संस्कार जीव मात्र में रहता है और अतीन्द्रिय है अर्थात् इसका किसी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं होता उपेक्षा अनात्मक निश्चय अर्थात् वस्तु का दृढ अनुभव उस संस्कार का कारण भूत है यह संस्कार० अनित्य होता है और किसी बड़े रोग (मिर्गी) आदि से वा बहुत काल से वा बारे प्रयोजन की सिद्धि से यह नष्ट होजाता है ॥ १६० ॥

स्मरणे प्रत्यभिज्ञायामप्यसौहेतरुच्यते ॥

टी०—अब संस्कार होने में प्रमाण दिखलाते हैं ।। स्मरण इति, स्मरणात्मक ज्ञान में तथा प्रत्यभिज्ञा ज्ञानमें 'असौ' अर्थात् संस्कार कारण है यहां पर यह तात्पर्य है कि कोई मनुष्य हरिद्वार आदि में तीर्थ यात्रा करने गया, वहां उसने किसी महात्मा के साथ मित्रता बनाई फिर वह यात्रा करके अपने गृहको चला आया। दश वर्ष व्यतीत होचुके कि दैवाधीन वह महात्मा इस ब्राह्मण के नगर में आया उसे देखते ही इस ब्राह्मण को परम आनन्द हुआ; और उसी समय गङ्गा के नील धारा आदि सभी स्थान तथा उस महात्मा के रहने का स्थान इन सब का स्मरण हुआ, इस स्मरण का कारण भावनाख्य संस्कार है और चार प्रकार के अनुभवों मेंसे किसी भी प्रकार का अनुभव जिस पदार्थ

---

१ अनुभवजन्यत्वेसतिस्मृतिजनकत्वंभावनाख्यसंस्कारस्य लक्षणम् ॥

ज्ञान, और भोग से भी नष्ट होते हैं(शं०)भगवद्गीता में ऐसा कथन किया है है कि "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतैरपि" अर्थात् कर्मों का नाश भोग के विना कभी भी नहीं होता तो फिर ज्ञान से कर्मनाश कैसे कहा (उ०) इस वाक्य में भोग पद से ज्ञान का भी आक्षेप कर लेना यदि ऐसा न हो, तो प्रायश्चित्त से कर्मनाश कैसे होता और गीता में स्वयं श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं "ज्ञानाग्निःसर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते ऽर्जुन। और श्रुति(४)भी कहती है "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इस लिये इन वाक्यों के साथ विरोध पड़ने से व्यवस्था से प्रारब्ध कर्म की तो भोग से निवृत्ति होती है परन्तु सञ्चित कर्मों का तो ज्ञान से नाश होता है इस में विवाद नहीं है ॥

[१]शब्दोध्वनिश्चवर्णश्चमृदङ्गादिभवोध्वनिः॥१६४॥
कण्ठ संयोगादिजन्या[क]वर्णास्तेकादयो मताः।
सर्वःशब्दोनभोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तुगृह्यते ॥१६५॥

टी०—अब शब्द का निरूपण करते हैं। 'शब्दो ध्वनिश्चेति शब्द दो प्रकारका है एक ध्वनि स्वरूप और दूसरा (क) वर्णात्मक अर्थात् संस्कृत भाषा स्वरूप जो मृदङ्ग, बंसी, सितार, बंदूक आदि से उत्पन्न हो उसे ध्वनि कहते हैं॥ १६४॥

---

(४) क्षयमपीहानुसन्धेया "मुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्या मिति"

१ श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वे सति गुणत्वं शब्दस्य लक्षणम्।

(क) वर्णेत्यं व्युत्पत्तिः 'वर्ण्यतेऽनेनार्थः इत्यभिधीयते प्राप्यते'इति (वात्स्या०१।१।१)

टीका—और कंठ तालु आदि स्थानों में वायु के संयोग से जो अक्षर उत्पन्न होते हैं, उन्हें वर्ण कहते हैं वे वर्ण 'क' 'ख' आदि भेद से अनेक हैं, सब प्रकार का शब्द समवाय संबन्ध से केवल आकाश ही में रहता है (शं०) दूरवर्ती शब्द का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता। (उ०) 'श्रोत्रोत्पन्नस्तु' मृदङ्ग आदि के अवच्छेद से उत्पन्न हुआ शब्द श्रोत्र में उत्पन्न हुआ ही प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नहीं (शं०) मृदङ्गावच्छिन्न आकाश में उत्पन्न हुआ शब्द श्रोत्राकाश में कैसे उत्पन्न होगा (उ०) जिस प्रकार श्रोत्र में उत्पन्न होता है उसका प्रकार स्वयं मूलकार ही 'वीचीति' मूल से कहते हैं।१६५॥

वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता ॥

टी०—वीची तरङ्ग न्याय से (तत्) उस शब्द की श्रोत्राकाश में उत्पत्ति कही है। भाव यह है कि जैसे जल में कोई ढेला गिरे तो पहिले छोटा सा गोल वृत्त बन जाता है फिर शीघ्रही वह छोटा वृत्त नष्ट हो जाता है, और एक बड़ा वृत्त बन जाता है इसी प्रकार छोटे २ मिट कर बड़े से बड़े वृत्त तब तक उत्पन्न होते जाते हैं जब तक इतना बड़ा वृत्त उत्पन्न हो लेवे, कि जो उस जलाशय के तटों से जा टकरे। इसी को वीचीतरंग न्याय कहते

(ख) अत्र वैयाकरणा आहुः—'परा, पश्यन्ती, मध्यमा' वैखरीइति चत्वारिवाचःपदानि। एकैवनादात्मिकावाक्मूलाधारा दुदितासती 'परा' इत्युच्यते। सैवहृदयाभिगामिनी 'पश्यन्ती' इत्युच्यते। सैव बुद्धिं गता विवक्षां प्राप्ता 'मध्यमा' इत्युच्यते। अथ यदा सैववक्त्रे स्थिता ताल्वोष्ठादि व्यापारेणबहिर्निर्गच्छति तदा 'वैखरी' इत्युच्यते। तथाच श्रुतिः। 'गुहात्रीणि निहितानेङ्गयन्ति 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति" इति। (ऋग् वेदः)

हैं इसी प्रकार तोप आदि में पहिले जब अग्नि आदि की क्रिया से अभिघात होता है तो एक शब्द उत्पन्न होता है :—

और उससे बड़ा शब्द एक उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में वह शब्द स्थित होता है, और उससे बड़ा एक शब्द उत्पन्न होता है; तीसरे क्षण में प्रथम शब्द नष्ट हो जाता है और दूसरा शब्द स्थित होता है और दूसरे से बड़ा तीसरा शब्द उत्पन्न होता है। इसी रीतिसे बड़े से बड़े शब्द तब तक उत्पन्न होते जाते हैं, कि जहां तक उस अभिघात की शक्ति होती है और यह भी समझना कि यह शब्द का तरंग जिस क्रमसे जिस २ पुरुष के कानतक पहुंचता है उसी क्रम से उस २ पुरुषों को प्रत्यक्ष होता है अर्थात् जिस स्थान पर शब्द उत्पन्न होता है उसस्थान के जो समीप हों उन्हें दूरवालेको अपेक्षा पूर्व वह शब्द सुनाई देगा, और समीप वाले की अपेक्षा पीछे से दूर वाला उसे सुनेगा इस विचार से सिद्ध हुआ, कि पहिला शब्द दूसरे शब्द का कारण है, और दूसरा शब्द पहिले शब्द के नाशका कारण है, परन्तु सब से पिछला शब्द अपने समीप रहने वाले पहिले शब्द का नाश करता है, और वह पहिला (उपान्त्य) शब्द अन्तिम शब्द का नाश करता है। इसे 'सुन्दोप सुन्दन्याय' भी शास्त्रकार कथन करते हैं अर्थात् सुन्द और उपसुन्द दोनों भाई थे, दोनों ने एक दूसरे पर ऐसी तरवार चलाई, कि दोनों एक समय में ही मरगए और साइंस में भी प्रायः शब्द की उत्पत्ति में यही क्रम पाइत है। जब वायु पर प्रहार होता है तो वायु इस प्रहार को चुपचाप नहीं सहारता, किन्तु वह भी अपने पास पास के वायु पर उसी तरह प्रहार करता है और फिर यह वायु अपने पास के वायु पर यूं ही पहुंचते पहुंचते वह प्रहार जो वायु पर हुआ था बहुत दूर

तक चला जाता है। अन्तको यह प्रहार हमारे तुम्हारे कानों तक पहुंचता है यह प्रहार हमारे कानके पड़दे पर इतने वेगसे नहीं लगता कि हम नीचे गिरपड़ें और इसी लिये हम इसको प्रहार नहीं कहते किन्तु यह कहते हैं कि हमारे कानों में शब्द आया है अर्थात् हम शब्द सुनते हैं। सारंस मे शब्द के वायु में चलने की रीति। पहिले जब मील या दो मील पर कोई तोप चलाई जायतो यह न समझना चाहिये कि वही परमाणु तोप से तुम्हारे कानोंतक चले आते हैं। तोपके पासके परमाणु अपने पासके परमाणुओं को प्रहार करके ठहर जायगे,और जिन परमाणुओं को प्रहार हुआ है वह भी अपने पासके परमाणुपर प्रहार पहुंचाकर ठहर जायगे और इसी प्रकार होता रहेगा यहां तक कि यह प्रहार तुम्हारे कानों तक पहुंचेगा॥

जैसाकि कुछ लचकदार गोले लो इनको भिन्न भिन्न डोरों स ऋजु श्रेणि में इस प्रकार लटकाओ कि वह एक दूसरे से केवल स्पर्श मात्र करें। अब पहिले गोले को उसी सीध में कुछ दूर पीछे हटाकर छोड़ दो कि दूसरे गोले को प्रहार करे। अब क्या होगा ? पहिला गोला दूसरे को प्रहार करके ठहर जायगा। दूसरा बहुत शीघ्र तीसरे को प्रहार पहुंचा कर उसी तरह ठहर जायगा तीसरा भी इसी तरह करेगा, यहां तक कि वह प्रहार सब से पिछले गोले तक पहुंचेगा। इस के परे और कोई गोला नहीं इस लिये यह गति करेगा। अब पहिला गोला वायुके उन परमाणुओं के सदृश है जो तोपके निरंतर पास हैं, और सब से पिछला गोला वायुके उनपरमाणुओं के सदृश है जो तुम्हारे कानके निरंतर पास हैं अब तुम जानगए हो कि जो प्रहार तोप के

पास वायुपर हुआ था वहकान के पास वायु तक किस प्रकारपहुंच गया, और इस बात की आवश्यकता नहीं कि एक ही परमाणु चल कर इतने दूरतक आवे ॥

कदम्ब गोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते।१६६।

टी०—किसी के मत में शब्द की उत्पत्ति कदम्ब गोलक न्याय से मानी है अर्थात् जैसे कदम्ब पुष्प के सर्व अवयवों में एक समय में ही कोरकों की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार शब्द में भी समझना चाहिये अर्थात् द्वितीय आदि शब्द न तो एक ही होता है और न दश दिशाओं में व्याप्त ही होता है किंतु दश ही दिशाओं में द्वितीय आदि शब्द दशही उत्पन्न होते हैं इस प्रकार में गौरव पड़ने से कहा है कि कस्यचिन्मते' भाव यह है कि अनन्त शब्दों की कल्पना करने में गौरव होता है अत' यह पक्ष ठीक नहीं है ॥१६६॥

उत्पन्नः को विनष्टः कइति बुद्धे रनित्यता॥१६७॥

टीका—अब शब्द प्रतिक्षात उत्पत्तिके समर्थन पूर्वक मीमांसकोंके मतका मूल कार खण्डन आप दिखलाते हैं'उत्पन्न इति' कण्ठताल्वादि के अभिघात से शब्दकी उत्पत्ति होने से उत्पन्न

---

१ अयंशब्दव्यञ्जकवायुरेवोत्पद्यते,नतुशब्दउत्पद्यते,अन्यथा प्रत्यभिज्ञानस्यात्इतिमीमांसकानांहृदयम् । 'प्रयत्नेनशब्दमुच्चारयतःपुंसोवायुर्नाभिकस्थितः,उरसिविस्तीर्णः, कण्ठेविवर्तिमूर्धानमाहत्यपरावृत्तोवक्त्रेविचरन्नानाविधान्शब्दानभिव्यनक्ति' इतिमीमांसकशिक्षाकृतः ॥

नानाविधान् शब्दान निष्पादयति' इतितार्किकाः ॥

हुआ यह प्रतीति तथा उस के अनन्तर शीघ्र ही 'क' नष्ट हुआ ऐसी प्रतीति होने से सिद्ध हुआ कि शब्द (१)अनित्य है ॥

मीमांसकों के मत में शब्द नित्य माना है तथा द्रव्य माना है दोनों पक्षों में अर्थात् शब्द के नित्यत्व तथा शब्द के द्रव्यत्वमें ये दो अनुमान प्रमाण दिखलाते हैं यथा—'शब्दोनित्यो व्योम मात्र गुणत्वात्, व्योमपरिमाणवत, अर्थ—शब्द नित्य है जिस से केवलआकाश का ही गुण है' आकाश मात्र के गुण आकाशकेपरम महत्व परिमाणकी न्याईं । परन्तु इतना इस स्थान में अवश्यजानना कि यह अनुमान प्रभाकर मीमांसक के मत से है जो कि शब्दको द्रव्य नहीं मानता द्रव्य मानने वाले भट्ट के मतसे अनुमान प्रकार तो यह है कि जैसे:—

शब्दो,नित्यः,निःस्पर्श द्रव्यत्वात् आत्मवत्। अर्थ शब्दनित्य है स्पर्श रहित द्रव्य होनेसे आत्मा की न्याईं । अब शब्दको द्रव्यत्व की सिद्धि में मीमांसकों का अनुमान दिखाते हैं यथा—श्रोत्र द्रव्य ग्राहक निरवयवेन्द्रियत्वात,मनोवत् । अर्थ श्रोत्र इन्द्रिय द्रव्य का ग्रहण करने वाला है जिससे यह निरवयव इन्द्रिय है मनकी न्याईं

परन्तु नैयायिक इसका खण्डन इस प्रकार से करते हैं ।

शब्दो न द्रव्य एकमात्राश्रितत्वात् । अर्थ—शब्द द्रव्यनहीं हो सकता क्योंकि यह एक अधिकरण आकाश में ही रहता है और कोई भी द्रव्य एक में ही रहने वाला नहीं दृष्ट होता।

(१)शब्दस्यानित्यत्वेप्रमाणमनुमानम् । तच्च,'शब्दोऽनित्यः'सामान्यवत्त्वेसतिअस्मद्बाह्येन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षविषयत्वात्, घटवत् (गौतम सूत्र वृत्तौ २ । २ । १) तथा च सूत्रम्—"आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्च" इति ।"(गौ० २ । २ । १४) ॥

(प्र०)शब्द(१)नित्यत्व वादी कथन करते हैं कि यहहीककार है जो मैंने कल्ह को सुना था इत्यादि प्रत्यभिज्ञा से शब्द स्थायि पदार्थ(नित्य)सिद्ध होताहै तो फिर अनित्यकथन अयुक्त है। इसका समाधान सूत्रकार स्वयं "सोऽयंक"इत्यादि ग्रन्थसे करते हैं॥

सोऽयंकइतिबुद्धिस्तुसाजात्यमवलम्बते॥१६७॥

टी०--शब्द सर्वथाही अनित्य है नित्य कदाचित् भी (२)नहीं होसकता और जो आपने 'सोऽयंकः' प्रत्यभिज्ञा शब्द नित्यत्व में दिखलाई है उस में भी पूर्वकालीनककार सादृश्य भासता है अन्यथा 'सोऽयं घटः' वही यह घट है इस प्रत्यभिज्ञा में भी अभेद की ही तुल्य न्याय से प्रतीति की आवश्यकता होने से घट को भी नित्यता माननी पड़ेगी तात्पर्य यह है कि पत्र पर लिखा देखकर यदि कहा जाय, कि यह वही,ककार अक्षर है तो वहां उसे शब्द नहीं जानना चाहिये जिससे कि शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से तो ग्रहण कदापि नहीं होता किन्तु उसे शब्द के स्मरण कराने वाला स्याही से बना हुआ,पार्थिव पदार्थ जानना चाहिये। और यदि कहे कि यह वही अक्षर मैं ना है;जो पहिले दिन सुनाया, तो यहां भी वही अक्षर नहींहै किन्तु पहिले दिन जो अक्षर सुनाया, उसमें जोजाति थी इस अक्षर में वही जातिहै; ॥ १६७ ॥

तदेवौषध मित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात् ॥
तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वमतं हिनः॥१६८॥

टी०—पूर्व पक्षी प्रश्न करता है कि 'सोऽयं' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा में सादृश्य अर्थात्—तज्जातीयत्व तुम्हें किस स्थल में प्रतीत हुआ है जिस से पूर्वोक्त समाधान तुम्हारा यथार्थ प्रतीत

हो। इसका उत्तर करते हैं 'तदेवौषध मिति' "तदेवौषधं—अर्थात् यह वही औषध है" इत्यादि स्थलों में सजातीय पदार्थों में भी प्रत्यभिज्ञा देखने में आती है यह तात्पर्य है जैसा कि किसी एक पुरुष ने अपने रोग दूर करने के लिये औषध खाया, कई एक दिन बीत चुके तो उसे औषध खाते देख कर किसी ने पूछा, आप क्या खाते हैं यह सुनकर इस ने उत्तर दिया, कि मैं वही औषध खाता हूं जो उस दिन आप के सामने खाई थी, यह सुनकर उसने सोचा, कि यह औषध तो इसने मेरे सामनही उस दिन खाली थी, आज फिर वही औषध इस के पास कैसे आगई कि यह उसेही खा रहा है। और मेरे साथ यह मनुष्य झूठ भी कभी नहींबोला, किंतु उस दिन जो औषध इसने खाया था, उसका सजातीय अर्थात् साथ का औषधहै। इस रीतिसे शब्द में सजातीयकाबोधजानना चाहिये इस लिये सर्व ही वर्ण अनित्यही हैं यह हमारा (नैयायिकोंका)मत है ॥ १५६ ॥ इतिशम् ॥ नमाऽस्तुपरमात्म । नमःस्तुसद्गुरुभ्यः ॥

॥ इतिकारिकावली रहस्य प्रकाशे गुणनिरूपणम् ॥

श्री सनातनधर्मोपदेशक काश्यधीत दर्शनविद्य चन्द्रपुर (चिनयोट) वास्तव्य गो.स्वामिवर्य पण्डित लक्ष्मणदत्त सूनु लवपुरीय विश्व विद्यालय (ओरियन्टल कालेज) अध्यापक पं० गणेशदत्त शास्त्रि कृतो रहस्य प्रकाश व्याख्या सहिता कारिकावली समाप्ता ॥

साचेयं पर ब्रह्माभिन्न दशरथात्मजपदपङ्कजयोः मधुनाञ्जलिरिवार्पितेति ॥ शम् ॥

नमः श्री रामचन्द्र पदारविन्दयोः ।

॥ श्री गुरुभ्यो नमः ॥

अथ कारिकावली परिशिष्टम् ॥

(१) समवाय संबन्धावच्छिन्न संयोगत्वावच्छिन्न संयोगनिष्ठकार्यता निरूपिता या तादात्म्य संबन्धावच्छिन्न द्रव्यत्वावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठा समवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् समवाय संबन्धावच्छिन्न दण्डत्वावच्छिन्न दण्ड निष्ठ कारणतावत्, इति द्रव्यत्वरूप धर्मसिद्धिः ततः सच जाति रुपाधिर्वा लाघवाज्जातिरूप एव, तत्र एकोऽनेको वा लाघवादेकः तता द्रव्यत्वरूपजातिः नित्यत्वे सति, एकत्वच सत्यनेक समवेतत्वाद्घटत्ववत् इति द्रव्यत्व जाति सिद्धिः ॥

(२) समवाय संबन्धावच्छिन्न गन्धत्वावच्छिन्न गन्धनिष्ठकार्यतानिरूपिता तादात्म्य संबन्धावच्छिन्न पृथिवीत्वावच्छिन्न पृथिवी निष्ठा,यासमवायिकारणतेत्यादि पूर्ववत् इति पृथिवीत्वजाति सिद्धिः।

(३) समवाय संबन्धावच्छिन्न जन्यजलत्वावच्छिन्न जन्य जलनिष्ठ कार्यता निरूपिता तादात्म्य संबन्धावच्छिन्न जलत्वावच्छिन्न जलनिष्ठा,यासमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नेत्यादि पूर्ववत्,तेन जल परमाणा वपि जलत्वजाति सिद्धिः इति जलत्व जाति सिद्धिः।

(४) समवाय संबन्धावच्छिन्न जन्यतेजस्त्वावच्छिन्न जन्य तेजोनिष्ठकार्यता निरूपित तादात्म्य संबन्धावच्छिन्न तेजस्त्वा-

परिदृश्यमान तेजोनिष्ठा,या समवायिकारणतेत्यादि पूर्ववत्,तत्तेजः परमाणावपि तेजस्त्व सिद्धिः, इति तेजस्त्व जाति सिद्धिः।

एव मपेक्ष्यमूह्यम्।

परिशिष्टे प्राज्ञ विशारद परीक्षोपयोगि प्रश्नाः।

(१) आकाशात्मनोः कोदृश साधर्म्यंभाजइति सम्यक् स्फुटी क्रियताम्॥

(२,वायुसाक्षात्कृतिर्भवतिनवा,यद्येकथं,चरमेकथंतत्सिद्धिः।

(३) असमवायिकारणस्वरूपं वस्त्रे संगमनीयं केन पुनः कारणेन तन्तुरूपे पटरूपनिरूपिताऽसमवायिकारणतेतियाथार्थ्येन विमृश्य कुरुत॥

[illegible] स्वरूपमतिव्याप्त्यादि दोषप्रदर्शन पुरस्कारेण निष्कृष्टं स[illegible]र॥

(५) सामान्ये समवाये च जातिरस्तिनवा नास्ति चेत्कुतो न,तद्वृत्तिधर्मस्य च कथं व्यपदेशः[illegible]रूपतत्त्वलक्षणं चातिविधत्त च इति॥

(६) पारिमाण्डल्य भिन्नानां कारणत्वमुदाहृत मित्यादि कारिकारहस्यं किम्। पारिमाण्डल्येन किं गृह्यते तत्कारणत्वे च किं पुन दूषणं जागर्ति।

(७) वायवीय शरीरं क्व वायव्य तद्वायनादि व्यवहारः।

(८) रूपस्य साक्षात्कारे कत्वगत्वादि प्रत्यक्षे च को व्यापार इतिसोपपत्तिकं निरूपयत।

(९) अभाव-प्रत्यक्षं परसमवायि कुत्रचनेति सविस्तरं सयुक्तिकं प्रकाशयत ॥

(१०) सामान्यलक्षणयोगजलक्षणयो रुदाहरणे प्रदर्शनीये किञ्चानयोः सांकर्यं विघटय्य सत्यपि विशदी कुरुत ।

(११) शरीरेन्द्रियमनसामात्मत्व व्यवस्थिति पुरस्सरं तदतिरिक्त तथाऽऽत्म सिद्धिर्दर्शनीया ।

(१२) इन्द्रियलक्षणं किं, कथञ्चतत्पदस्य पदकदम्बस्य प्रयोजन समवायः ।

(१३) योगाचारादयो बौद्धाः ज्ञात्यनभ्युपगमे विभावत्तिम दूषणं यथा वाचो युक्तायुक्तार्थहारि तार्किकैः रुक्तम् किमुक्त मिति स्पष्टी कुरुत ।

(१४) पूर्ववच्छेष व्याप्तिज्ञाने किं बीजम् । कथञ्चोदीच्य व्याप्ति स्वरूपेणेष्ट निष्पत्तिः ।

(१५) विरुद्ध सत्प्रतिपक्षयोः किमवच्छेदकम् । का च सत्प्र...च पर्यायेण व्यवहृतिः किञ्चास्यनामधेयान्तरम् ।

(१६) पक्षतालक्षणे सिषाधयिषा पदेन कोऽर्थोऽभिमतः । किञ्च सिद्धो विशेषणं कुतस्त्येतिमत्प्रगुणं प्रश्नित ।

(१७) परामर्शस्वरूपं किम् । कतिविधश्च परामर्शः ।

(१८) कालात्ययापदिष्टस्य कुत्र प्रतिबन्धकत्वं कार्यञ्च किमस्योदाहरणम् । कस्य संज्ञायां विग्रहः ॥

(१९) उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वे कोऽविप्रतिपत्तौ कारणमिति ।

(२०) उपमान कार्यं किम् । कार्ये कोऽव्यापारः ।

(२१) पदस्वरूपं किम् । कति विधञ्च पदम् ।

(२२) नैयायिका वाक्यज्ञानस्य कुत्र शक्तिं स्वीकुर्वन्तेऽयेतच

विप्रतिपद्यन्ते   इत्यनयोः पक्षसाधकबाधकयुक्तयुक्त्योपन्यासो विधेयः।

न्यायव्याकरणयोः शाब्दबोधे कीदृशी विप्रतिपत्तिः। कयश्चे-ष्टता किंकृतविजयः।

(२४) लक्षणं स्वरूपं बीजञ्च लेख्यम्।

(२५) कारिकावल्या कुत्र २ नामनिर्देशपूर्वकं नैयायिकमतं प्रदर्श्य कारिकावलीग्रन्थरचयितृमतसाम्यमित्यस्य विवरणयुक्तता।

(२६) तर्कस्य किं स्वरूपम्। किञ्च लक्षणम्। कश्चोपयोगः

(२७) उपाधेः किं लक्षणं तच्च लक्ष्ये संगमनीयम्।

(२८) धर्मयोश्च कारणकलापः क्व हेतु समुद्दिश्य लेख्यः।

(२९) प्रवृत्त्युत्पत्तिक्रमो निरूपणीयः।

(३०) न्याये शब्दो नित्योऽनित्यो वा, अत्र का युक्तिः कश्चतन्नि-रूपतांमते।

(३१) नैयायिकानां मते द्व्यणुके पाकः, वैशेषिकाणान्तु नये पर[illegible] इत्यनयोः पक्षयोः का उपपत्तयः।

(३२) [illegible]रूप स्वीकारे का युक्तिः कुतश्च रसो न तथा।

(३३) ईश्वरेणैव वेदो रचित इत्यत्र कः प्रबलस्तर्कः।

(३४) वर्णलाभार्थं सुमेरु शृ[illegible]ने प्रवृत्तिः कथं न जायते।

(३५) लिङ्गं कतिविधं प्रत्येकं लक्षणोदाहरणाभ्यामाविष्कार-णीयम्।

(३६) चक्षुरादिव्यतिरिक्त तथा मनः सिद्धिः प्रदर्श्या।

(३७) अन्योन्याभावतः पृथक्त्वस्य को विशेषः।

(३८) अदृष्टस्य सिद्धिः कथम्।

(३९) अभाव भेदाः के तेषां प्रत्येकं लक्षणोदाहरणानि ले-खनीयानि।

(४०) विशेष पदार्थाङ्गीकारे को हेतुस्तत्र जातिर्वर्तते नवा यन्ते कुतोन ।

(४१) अर्थापत्तेः पृथक् प्रामाण्यं कैः स्वीकृतं नैयायिकैश्च तत् कथं खण्डितम् ।

(४२) पृथिव्यागन्धवत्त्वलक्षणं विहायगन्धसमानाधिकरण द्रव्यत्व व्याप्यजातिमत्त्वलक्षणकरणे कोहेतुः ॥

(४३) संघातारम्भपरिणामविवर्तवादेषु कतमोऽन्यायान् कस्य न्यायसम्मतः केषाञ्चेतरे ॥

(४४) परमाणुनित्यत्वं साधनीयम् ॥

(४५) रसनेन्द्रिय जलीयत्वं साधनीयम् ॥

(४६) जलेमधुरोरसः प्रत्यपादितस्तत्कथं घटते जम्बीररसेऽम्लोत्वोलब्धेरिह समाधेयम् ॥

(४७) के प्रादेशिका गुणाः । केच अतीन्द्रियाः ।

(४८) द्रव्याध्यक्षेत्वचोयोगो मनसाज्ञान कारणम् । [illegible] चक्षुर्योग्यमहद्‌ रूप द्रव्यादेरुपलम्भकम् । चक्षु[illegible]या चक्षुरादिक मनेकधा । १ । निवक्ष्य सार्थक्यं व्या[illegible]नाम् ॥

(४९) अका[illegible] गुण [illegible] गुणा दर्शनीयाः ।

(५०) *एकैकेन्द्रिय[illegible] ह्याः के द्वीन्द्रिय ग्राह्याश्चके ।



कारिकावली परिशिष्टम् ॥

अथ दर्शनभेदेन पदार्थाः नानाविधाःतथाहि

(१) चिन्मात्रंब्रह्मैवेकं तत्त्वम्इति मायावादिनो वेदान्तिन आहुः ॥

(२) चिदचिदीश्वर भेदेन त्रय,इति रामानुजीयाः।

(३) स्वतन्त्र परतन्त्र भेदेन द्वौ पदार्थौ, इतिमाध्वाः।

(४) पूर्वोक्त कारिकावलीस्थाः सप्तेति वैशेषिकाः।

(५) पूर्वोक्त षोडशेति गौतमीयाः।

(६) मूल प्रकृतिः बुद्धिः अहङ्कारः,पञ्चतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रयाणि,पुरुषश्चेतिपञ्चविंशतिरिति सांख्याः।

(७) सांख्यस्याऽऽईश्वरश्चेतिषड्विंशतिरिति पातञ्जलाः।

( ) द्रव्यगुणकर्म सामान्यसंख्या समवाय सादृश्यशक्तयः, ...ष्टौ पदार्था इति प्रभाकरमीमांसकाः॥

(८) ... जलतेजो वायव इति चार्वाकाः।

(१०) शून्यमिति बौद्धविशेष...

(११) जीवो ब्रह्म प्रकृतिश्च... ...मिदयानन्दाः।



अथ दर्शनैक्यम्।

सर्वेषा मेव दर्शनानां जीवात्मपरमात्मभेदाभावतावेव ...त्पारम्पर्येणतात्पर्यमितितु वयन्मिनिश्चिनुमः तथाहि—वे

भूतपद्ं पूर्वपक्षपरं सिमितसाज्ञात्वि दहेयान्तरं [illegible] यताग [illegible]
[illegible] मसमयाचि. सम अनितयेव विश्वाभोक्तुकामाः [illegible] प्रवृत्ताः
सेऽयमन्यतम. काष्ठमाहरत् अपरोऽग्न्यानयनेऽमनः इतरोऽग्निहत्वा [illegible]
भवत्, अन्योऽग्नि धूमचूर्णसम्पादनायप्रवृत्त., एकोऽन्नपाकनिर्मिति
तत्परोऽभूत्, अवशिष्टमार्जनाभूमिशोधनकर्मणि प्रसक्त इति
इदानीमिहविचार्यंतान्नामयतपाक [illegible] स्यास्मि कृत्य क्रियावेत
अपचेऽपि सर्वेषामविशिष्टमेवनाम तदिदं नूनं प्रीतिसेयः । एव
मेव षड्दर्शनज्ञानमहर्षय ऽपिदर्शनभेदेऽपि मोदे यभेदभाजइत्यव
गन्तव्यम् ॥

तत्वयात्वंपदार्थ (जीव) सशोधनंसांख्यकृत्य सृष्टयन्त्वभेद
ज्ञानम् । एवंतत्पदार्थ (ईश्वरस्वरूप) संशोधनंन्यायकृत्यम्
कर्मद्वारा अन्तःकरणशुद्धिरूपकर्ममीमांसायाः । पश्चाज्जीव ब्रह्मणो
रैक्यमितिवेदान्तस्यति तदिदंचरमफलमितिभावः ॥

योगवैशेषिकयोस्तु सांख्यन्याययाभिन्नतया [illegible] ज्ञाना
भिधानम् विवेक्षा प्रथमत्र वा योगफलतदपिचार [illegible] युज्यत इति
नाधिकंमवगम्यते ॥

अथवा अधिकारि [illegible] दर्शनपृथक्निरूपणंवस्तुतः ज्ञान
शोधनेतात्पर्यांनहि प्रथमतएव समस्तानां सुखावभेदःप्रस्फुरति, इति
यथान तावत्मास्तरोवाये [illegible] मनाशाचैवमाहित्यचरोचपदिहपुर्जे।
तुचिदननुमत्त कश्चिद्दृष्टन्यरोनामेत्यसमन्वयेनविदलिष्यति ।

